TEXT CUT WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186190

UNIVERSAL
LIBRARY

SMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Accession No. GH 2124

This book should be returned on or before the date marked below.

यदि आप अभी तक इस सिरीज़ के ग्राहक नहीं बने हैं, तो ग्राहक बनने में शीघ्रता कीजिए; या पुस्तक के पृष्ठभाग पर दी हुई सूची में से अपनी पसंद की पुस्तकें चुनकर अपने स्थानीय पुस्तक-एजेंट से लीजिए।

सरस्वती-सिरीज़ नं० १७

हिन्दी के निर्माता [१भाग]

बाबू श्यामसुंदरदास बी० ए०

११/२०

हिन्दी पुस्तक भण्डार, जी. लंबाणी.

प्रकाशक
इंडियन प्रेस लिमिटेड
प्रयाग

Printed and published by K. Mittra,
at The Indian Press, Ltd., Allahabad.

आभारस्वीकृति

मैंने इस ग्रंथ के प्रस्तुत करने में विशाल भारत, सुधा, सरस्वती तथा कविताकौमुदी से जहाँ-तहाँ सहायता ली है और किसी किसी अंश में उनके लेखों से विशेष संकलन किया है। अतएव मैं उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। बाबू कृष्णदेवप्रसाद गौड़ ने दो जीवन-चरितों के प्रस्तुत करने में मेरी विशेष सहायता की है। उन्हें भी धन्यवाद देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। प्रोफेसर पूर्णसिंह का चित्र मुझे सेंट निहालसिंह की कृपा से प्राप्त हुआ। इसलिये इनका भी मैं आभारी हूँ।

—ग्रंथकर्त्ता

प्रस्तावना

हिंदी के आधुनिक गद्य-साहित्य का इतिहास अभी कोई डेढ़ सौ वर्ष पुराना है। यद्यपि गद्य का आरंभ तो उसी दिन से हो जाता है, जिस दिन से मनुष्य बोलने लगता है और यद्यपि साहित्य के कामों के लिये हिंदी-गद्य का प्रयोग कई शताब्दी पुराना मिलता है, पर उसको आधुनिक साहित्यिक रूप देने का काम कोई डेढ़ सौ वर्ष पहले किया गया था।

हिंदी-साहित्य के निर्माण का काम एक ओर अवधी और दूसरी ओर व्रज-भाषा में किया गया। खड़ी बोली तो केवल बोलचाल की भाषा थी। उसमें साहित्य-निर्माण का काम प्राचीन समय में बहुत कम अथवा नाम-मात्र हुआ था। इसी लिये प्राचीन गद्य जो कुछ मिलता है, वह विशेषकर व्रज-भाषा में ही लिखा मिलता है।

भारतवर्ष का भाषा-संबंधी इतिहास बड़ा ही विचित्र और मनोरंजक है। यह कहावत कि इतिहास की उद्धरणी होती रहती है अर्थात् ऐतिहासिक घटनाएँ समान स्थिति पाकर घूम-घूमकर होती रहती हैं, जितनी भारतवर्ष के भाषा-संबंधी इतिहास पर चरितार्थ होती है, उतनी दूसरी किसी बात में इतनी स्पष्ट नहीं लगती। वैदिक युग की बोलचाल की भाषा को लेकर जब वेदों की रचना हुई, तब मानों वैदिक साहित्य की भाषा की नींव डाली गई। उसी पर साहित्य की भाषा का प्रासाद खड़ा किया गया। समय पाकर उसने संस्कृत का रूप धारण किया। इस प्रकार साहित्य की भाषा अपने ढंग पर विकसित

होती चली; पर बोलचाल की भाषा से इसकी कोई घनिष्ठता न रही। वह साहित्यिक भाषा के निर्माण में सहायक होकर उससे अलग रही और अपना विकास अपने ढंग पर करती रही। यद्यपि आरंभ में दोनों में विभेद बहुत कम था, पर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों दोनों में अंतर और विभेद की मात्रा बढ़ती गई।

पढ़े-लिखे या साहित्य-सेवी लोग अपना एक अलग समुदाय-सा बना लेते हैं और अपनी भाषा को शुद्ध तथा पवित्र रखने का उद्योग करते रहते हैं। जन-समुदाय को ऐसी कोई चिंता नही होती। वे भाव-प्रदर्शन को ही अपना मुख्य उद्देश्य मानकर अपना काम करते हैं और भाषा प्राकृतिक नियमों के अनुसार परिवर्तित या विकसित होती रहती है। जब 'शिष्ट' लोगों को जन-समुदाय को अपने साथ लेकर चलने की आवश्यकता पड़ती है अथवा जब वे उसकी सहायता या सहयोगिता के लिये उसके मुखापेक्षी होते हैं, तब उन्हें हारकर समझाने-बुझाने और अपने पक्ष में करने के लिये उनकी 'अशिष्ट' 'अपरिमार्जित' 'असंस्कृत' 'गँवारू' भाषा का प्रयोग करना पड़ता है। उनके हाथों में पड़कर यह बोलचाल की भाषा क्रमशः साहित्यिक भाषा का रूप धारण करने लगती है अर्थात् उसमें साहित्य की रचना होने लगती है। इस प्रकार यह नवीन भाषा पुरानी भाषा का स्थान ग्रहण करती जाती है; पर बोलचाल की भाषा अपने ढंग पर चली चलती है। स क्रम से एक ओर वैदिक बोलचाल की भाषा से पाली, पाली से प्राकृत, प्राकृत से अपभ्रंश और अपभ्रंश से आधुनिक भाषाओं का आविर्भाव हुआ; दूसरी ओर वैदिक भाषा के अनंतर संस्कृत, संस्कृत के अनंतर पाली, पाली के अनंतर प्राकृत, प्राकृत के अनंतर अपभ्रंश और तब आधुनिक भाषाएँ भारतीय साहित्य के राज-सिंहासन पर विराजने की अधिकारिणी हुईं। यह

क्रम सहस्रों वर्ष से चला आ रहा है और न जाने कब तक इसकी उद्धरणी होती रहेगी ।

हमारे प्रदेश में आधुनिक भाषाओं में पूर्व में अवधी, मध्यदेश में व्रज-भाषा और पश्चिम में खड़ी बोली का प्रचार रहा । पहले तो तीनों ही बोलचाल की भाषाएँ थीं, पर क्रमशः अवधी और व्रज-भाषा में साहित्य की रचना होने लगी; खड़ी बोली प्रायः बोलचाल के काम में आती रही। अब उसी खड़ी बोली का साहित्य में प्रयोग होने लगा है और अवधी तथा व्रज-भाषा का आधिपत्य उस क्षेत्र से क्रमशः कम होता जा रहा है। इस परिवर्तन, इस भाषा-संबंधी क्रांति का आरंभ डेढ़ सौ वर्ष पहले हुआ। राजनैतिक क्षेत्र में लोग शांतिमय क्रांति का आदर्श उपस्थित करते हैं, पर इतिहास में उसके उदाहरण नहीं मिलते। हमारे देश के साहित्यिक क्षेत्र में ऐसी शांतिमय क्रांति का प्रत्यक्ष उदाहरण वर्तमान है और यह एक बेर नहीं, कई बेर हो चुका है। जब-जब साहित्यिक क्षेत्र में कोई भाषा अपनी उन्नति की सीमा को पहुँच गई और उसका जन-साधारण से संपर्क नाम-मात्र का रह गया, तब-तब उसका स्थान बोलचाल की भाषा ने क्रमशः लेना आरंभ कर दिया और समय पाकर वह उस अधिकार पर पूर्णतया आरूढ़ हो गई। पर जिन्होंने उसे यह राज्याधिकार दिलाया, उनको भूल जाने के कारण उसको उस पद से वंचित होना पड़ा । यह क्रम सहस्रों वर्षों से चला आ रहा है, अभी तक चल रहा है और भविष्य में इसके चलते रहने की पूर्ण संभावना है।

अस्तु, आधुनिक हिंदी-गद्य को साहित्यिक रूप देने अर्थात् गद्य-साहित्य में खड़ी बोली का प्रयोग पूर्णरूप से आरंभ करने का श्रेय सदासुख राय, सदल मिश्र, लल्लूजी लाल और सैयद इंशाउल्ला खाँ को प्राप्त है; यद्यपि

संवत् १९९८ में रामप्रसाद निरंजनी ने 'भाषायोगवाशिष्ठ' नाम का ग्रंथ सीधे-सादे पर अच्छे हिंदी-गद्य में लिखा, परंतु आधुनिक हिंदी-गद्य का वास्तविक विकास पीछे लिखे चार व्यक्तियों से होता है। सदासुख राय की मृत्यु १८८१ वि० में हुई। लल्लूजी लाल ने संवत् १८८१ में पेंशन ली और सदल मिश्र संवत् १८८८ के कुछ पहले अपने घर लौट आए थे और इंशाउल्ला खाँ की मृत्यु संवत् १८८३ में हुई। जहाँ तक इन चारों महानुभावों के संबंध के संवतों का पता लगा है, उसके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि वे प्रायः समकालीन थे और उनकी रचनाओं के काल में विशेष अंतर नहीं है। सदासुख राय ने अपने भक्तिभाव से प्रेरित होकर भागवत का अनुवाद खड़ी बोली में किया। लल्लूजी लाल और सदल मिश्र ने तो कलकत्ते के फोर्ट विलियम कॉलेज के डॉक्टर जान गिलक्रिस्ट की तत्त्वावधानता में ईस्ट इंडिया कंपनी के युरोपियन नौकरों को हिंदी भाषा का ज्ञान प्राप्त कराने के लिये गद्य-ग्रंथों की रचना आरंभ की; पर इंशाउल्ला खाँ को दूसरों के आदेश से अथवा दूसरों की आवश्यकता या अभाव को पूरा करने के लिये यह काम नहीं करना पड़ा। वे अपने ग्रंथ लिखने का कारण इस प्रकार बताते हैं--"एक दिन बैठे बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिंदी को छुट और किसी बोली को पुट न मिले; तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप से खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो। अपने मिलनेवालों में से एक कोई बड़े पढ़े-लिखे, पुराने-धुराने, डाँग-बूढ़े घाघ यह खटराग लाए। सिर हिलाकर, मुँह थुथाकर, नाक-भौंहें चढ़ाकर, आँखें फिराकर लगे कहने--यह बात होते दिखाई नहीं देती। हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो। बस जितने भले लोग आपस में

बोलते-चालते हैं, ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छाँह किसी की न दे, यह नहीं होने का। मैंने उनकी ठंडी साँस का टहोका खाकर, झुँझलाकर कहा, मैं कुछ ऐसा बड़-बोला नहीं जो राई को पर्वत कर दिखाऊँ और झूठ सच बोलकर उँगलियाँ नचाऊँ और बे-सिर बे-ठिकाने की उलझी-सुलझी बातें बनाऊँ। जो मुझसे न हो सकता तो यह बात मुँह से क्यों निकालता? जिस ढब से होता इस बखेड़े को टालता। इस कहानी को कहनेवाला आपको जताता है और जैसा कुछ उसे लोग पुकारते हैं, कह सुनाता है। दहना हाथ मुँह पर फेरकर आपको जताता हूँ जो मेरे दाता ने चाहा तो वह ताव-भाव और कूद-फाँद, लपट-झपट दिखाऊँ जो देखते ही आपके ध्यान का घोड़ा, जो बिजली से भी बहुत चंचल अचपला-हट में है, अपनी चौकड़ी भूल जाय।

टुक घोड़े पर चढ़के अपने आता हूँ मैं।
करतब जो कुछ हैं कर दिखाता हूँ मैं॥
उस चाहनेवाले ने जो चाहा तो अभी।
कहता जो कुछ हूँ कर दिखाता हूँ मैं॥

अब कान रखके, आँखें मिलाके, सम्मुख होके टुक इधर देखिए, किस ढब से बढ़ चलता हूँ और अपने फूल के पँखड़ी जैसे होंठों से किस-किस रूप के फूल उगलता हूँ।"

लल्लूजी लाल प्रेम-सागर की भूमिका में लिखते हैं—"श्रीयुत गुन-गाहक, गुनियन-सुखदायक जान गिलक्रिस्त महाशय की आज्ञा से संवत् १८६० में श्री लल्लूजी लाल कवि ब्राह्मन गुजराती सहस्र-अवदीच आगरे-वाले ने विसका (चतुर्भुजदासकृत भागवत दशम स्कंध के अनुवाद का) सार ले, यामनी भाषा छोड़ दिल्ली आगरे की खड़ी बोली में कह, नाम प्रेम-सागर धरा। पर श्रीयुत जान गिलक्रिस्त महाशय के जाने से बना

अधबना, छप अधछपा रह गया था। सो अब श्री महाराजेश्वर अति दयाल कृपाल यसस्वी तेजस्वी गिलबर्ट लार्ड मिंटो प्रतापवान् के राज में औ श्रीगुनवान सुखदान कृपा-निधान भगवान कपतान जान उलियम टेलर प्रताती की आज्ञा से और श्रीयुत परम सुजान दयासागर परोपकारी डाकतर उलियम हंटर नक्षत्री की सहायता से औ श्री निपट प्रवीन दयायुत लिपटन अबराहम लाकर रतीवंत के कहे से उसी कवि ने संवत् १८६६ में पूरा कर छपवाया, पाठशाला के विद्यार्थियों के पढ़ने को।"

इसी प्रकार पंडित सदल मिश्र नासिकेतोपाख्यान के अनुवाद के आरंभ में लिखते हैं—"चित्र विचित्र सुन्दर-सुन्दर बड़ी-बड़ी अटारिन से इन्द्रपुरी समान शोभायमान नगर कलिकत्ता महा प्रतापी वीर नृपति कंपनी महाराज के सदा फूल फूला रहे, कि जहाँ उत्तम-उत्तम लोग बसते हैं और देश-देश से एक से एक गुणीजन आय आय अपने अपने गुण को सुफल करि बहुत आनन्द में मगन होते हैं। नाम सुन सदल मिश्र पंडित भी वहाँ आन पहुँचा। वो बड़ी बड़ाई सुनि सर्व-विद्यानिधान ज्ञानवान महा-प्रधान श्री महाराज जान गिलक्रस्त साहब से मिला कि जो पाठशाला के आचार्य हैं। तिनकी आज्ञा पाय दो-एक ग्रंथ संस्कृत से भाषा वो भाषा से संस्कृत किए। अब संवत् १८६० में नासिकेतोपाख्यान को कि जिसमें चंद्रावती की कथा कही है, देववाणी से कोई कोई समझ नहीं सकता, इस-लिये खड़ी बोली में किया।"

सदासुख राय ने स्वांतःसुखाय रचनाएँ कीं। उनकी रचनाएँ भक्ति-भाव से प्रेरित थीं। लल्लूजी लाल ने अपने स्वामी की आज्ञा के वशीभूत होकर तथा सदल मिश्र ने फोर्ट विलियम के आचार्य जान गिलक्रिस्त के कहने पर तथा इंशाउल्ला खाँ ने कुतूहलवश तथा अपनी विद्वत्ता और

काव्य-कुशलता की उमंग में आकर अपने-अपने ग्रंथों की रचना की। इस प्रकार हिंदी-गद्य में इन चार ग्रंथों की रचना हुई।

सदासुख राय का वृत्तांत उनके एक वंशज ने इस प्रकार लिखा है—

मुंशी सदासुख राय के पूर्वज और उनके पिता गाज़ीपुर ज़िले के सैदपुर नामक स्थान के रहनेवाले थे। मुंशी जी के पिता का नाम मुंशी शीतलचंद और पितामह का नाम भाईराम था। वे बादशाह मुहम्मद-शाह के दरबार में पाँच सदी मनसबदार थे। मुंशी जी के पिता के पूर्वज दिल्ली में ही रहते थे।

मुंशी सदासुख राय का जन्म सवत् १८०३ में हुआ था। सरकारी नौकरी के सिलसिले में वे गाज़ीपुर से दिल्ली गए और वहाँ रहने लगे। शाही दरबार में उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। इसके बाद वे ईस्ट-इंडिया कंपनी की नौकरी के सिलसिले में चुनार आए। इन्हीं दिनों उन्होंने उर्दू और फ़ारसी में बहुत-सी पुस्तकें लिखीं और काफ़ी शायरी और हिंदी-रचनाएँ भी कीं। चुनार में वे कंपनी सरकार के तहसीलदार थे। यों तो उनको अपनी नौकरी के कारण भिन्न-भिन्न स्थानों में रहना पड़ा, किंतु ज़्यादातर वे चुनार में ही रहे। ६५ वर्ष की आयु में नौकरी छोड़कर वे चुनार से प्रयाग में आकर रहने लगे। प्रयाग में रहकर वे अपने जीवन का शेष भाग हरि-भजन में व्यतीत करना चाहते थे। यहाँ उनकी ससुराल थी। ससुराल से मुंशी जी के रहने को एक मकान मिला था, जो बाद को उन्हें दे ही दिया गया। दिल्ली में मुंशी जी के पास बहुत-सा शाही सामान तथा विलासिता की वस्तुएँ और धन था, जो अहमदशाह दुर्रानी के आक्रमण के समय सबका सब लुट गया था। प्रयाग में उनके पास पिछले दिनों की कमाई का ही धन था। प्रयाग आकर वे एक साधु की भाँति अपना जीवन व्यतीत करने लगे।

मुंशी सदासुख राय ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तकें—'मुंतखबुत्तवारीख' तथा 'सुखसागर' संवत् १८७५ तक समाप्त कर दी थीं। इसके बाद वे गीता का अनुवाद तथा अन्य पुस्तकें लिखते रहे। उन्होंने उर्दू और फ़ारसी की शायरी के अतिरिक्त ब्रज-भाषा में कविताएँ और भजन भी बनाए हैं। ये भजन और कविताएँ अधिकतर ईश्वर-संबंधी या अध्यात्मविषयक हैं। उन्होंने कई पुस्तकें और कविताएँ लिखी हैं; किंतु वे सभी अब अप्राप्य हैं, न उनका पता ही मिल रहा है। उनके हाथ की लिखी एक 'नोट-बुक' प्राप्त है, जो पद्य में लिखी है।

मुंशी जी ने श्रीमद्भागवत के कुछ स्थलों को हिंदी के 'कड़खा' इत्यादि छंदों में लिखा है। ऐसी रचनाओं में उन्होंने उर्दू-शब्दों का प्रयोग भी किया है। गोवर्द्धन-धारण के समय बादलों की सेना का वर्णन वे इस भाँति करते हैं।

"करके नज़्म व नस्क फ़ोज का ठाठ-बाट से।
चले बादल सायक़ा मैमना राद मैसरा आँधी हरावल॥
इत्यादि— —सुखसागर"

किंतु सुखसागर का मंगलाचरण हिंदी के तत्सम शब्दों में ही लिखा गया है। जो इस प्रकार है:—

मंगलाचरण

हर नाम सबका सार है, हर नाम से उद्धार है।
हर नाम दुख में यार है, गोविंद भज, गोविंद भज॥
हर से बड़ा हर नाम है, हर नाम से आराम है।
हर नाम ही सों काम है, गोविंद भज, गोविंद भज॥

हर नाम सुख का मूल है, आनंद का फल-फूल है ।
दो-सिंधु का यह कूल है, गोविंद भज, गोविंद भज ॥
हर नाम रस जिसने पिया, वह कल्प-कल्पांतर जिया ।
ब्राह्मण कि वह चांडाल हो, हर नाम में खुशहाल हो ।
दौलत से मालामाल हो, गोविंद भज, गोविंद भज ॥

× × ×

बस, कुन 'निसार' ई गुफ़्तगू-दर फारसी-गो बेह अज़ू ।
बायद-न मूदन ज़िक्रे-ऊ, हर नाम गो-हरनाम गो ॥

मुंशी जी 'भाषा' के प्रेमी थे । और उन्होंने जो भाषा लिखी है वह संस्कृतमिश्रित ऊँचे दरजे की भाषा है । और उसी भाषा में अपना 'सुखसागर' और 'गीता' लिखी है । उन्हें उस साधु-भाषा का हिंदू-समाज से, उर्दू के प्रवेश के कारण, उठ जाने का भारी दुःख था । उन्होंने लिखा है :—

"रस्मो-रिवाज भाखा का दुनियाँ से उठ गया ॥"

सारांश यह कि मुंशी जी ने हिंदुओं की शिष्ट बोल-चाल की भाषा में ही अपने भाव व्यक्त किए हैं । उर्दू से भाषा नहीं ली । इनकी क्रियाओं और शब्दों के स्वरूप स्पष्ट बताते हैं कि उर्दू से सर्वथा पृथक् खड़ी बोली में ही उन्होंने अपनी पुस्तकें लिखी हैं । उन्हीं की भाषा का बाइबिल के अनुवादकों ने अनुसरण किया है । स्वयं केरे साहब ने बाइबिल का हिंदी-अनुवाद 'नये धर्म-नियम' के नाम से संवत् १८६६ में कराया, फिर समग्र ईसाई-पुस्तकों का भी भाषानुवाद संवत् १८८५ में समाप्त हुआ और इन सबमें भाषा मुंशी सदासुख राय की ही रक्खी गई । इनमें उर्दूपन को स्थान नहीं दिया गया । मुंशी जी की भाषा इस तरह हिंदी-गद्य के विकास-काल में आदर्श रूप से स्वीकार की गई ।

मुंशी जी गद्य के एक प्रचंड लेखक ही नहीं, एक ऊँचे दरजे के कवि भी थे। परंतु उनकी हिंदी की रचनाएँ बहुत कम मिलती हैं। हाँ, उर्दू की थोड़ी-बहुत रचनाएँ मिलती हैं। एक रचना में उन्होंने अपने कुल की उन्नति की आकांक्षा से "गौड़-वंश" की हजो की है। इस हजो में वे लिखते हैं:—

"किस्म जामिद में हुआ सीमतिला अफ़ज़ल तर,
जिनसे नामी में वो शै जिससे बनै कंद व शकर।
जिनसे हैवाँ में फ़उस ज्यादा अजाँ नौ ये बशर,
इसमें वह शख़श कि जो अहले-हुनर साहबे ज़र।
"गौड़" है किसमें इलाही! कि न इधर, न उधर॥
संग होते तो कहीं होके सनम पुजवाते,
काठ होते तो इमारत में कहीं लग जाते।
होते हैवाँ तो कहीं घास, खली, भुस खाते,
होते इनसाँ तो लियाक़त से कहीं जस पाते॥
यह न अहजार, न अशजार, न हैवाँ, न बशर॥"—इत्यादि।

मुंशी जी चित्रकार भी थे। सूर के कुछ पदों के रागों को उन्होंने सचित्र किया है।

अन्यत्र कथित प्राप्त 'नोट-बुक' के अंतिम पृष्ठों में मुंशी जी की मृत्यु के संबंध में कुछ दोहे हैं जो संभवतः उनके किसी निकटतम संबंधी के लिखे जान पड़ते हैं और जिसके अक्षरों की लिपि में भी पर्याप्त अंतर है। वे दोहे ये हैं:—

"अस्टादश शत बर्ख पर, बीते अस्सी एक।
अगहन मास के दशमी, सुकुल पच्छ....नेक॥"

(इस दोहे में का रिक्त स्थान दीमकों ने खा डाला है, अतः नहीं गढ़ा जा सकता ।)

"बुध बासर रवि उदय में, सुभ नछत्र तिथि पाय ।
परम हुलास आनंद सों, इष्ट देव सिर नाय ॥
तीरथ-राज प्रयाग में, आज्ञा ईश्वर पाय ।
पग धारे बैकुंठ को, गौड़ सदासुख राय ॥"

मुंशी सदासुख राय के गद्य का उदाहरण इस प्रकार है :—

"इससे जाना गया कि संस्कार भी प्रमाण नहीं, आरोपित उपाधि है। जो क्रिया उक्त हुई तो सौ वर्ष में चांडाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरंत ब्राह्मण से चांडाल होता है । यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं। जो बात सत्य होय उसे कहा चाहिए, कोई बुरा माने कि भला माने। विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिए। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कहके लोगों को बहकाइए और फुसलाइए और सत्य छिपाइए । व्यभिचार कीजिए और सुरापान कीजिए और धनपुण्य हकठौर कीजिए और मन को, कि तमोवृत्ति से भर रहा है, निर्मल न कीजिए। तोता है सो नारायण का नाम लेता है, परंतु उसे ज्ञान तो नहीं है ।"

लल्लू जी लाल का वृत्तांत काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित प्रेमसागर की भूमिका में इस प्रकार दिया है :—

"इनका नाम लल्लूलाल, लालचंद, या लल्लूजी था और कविता में उपनाम लाल कवि था । ये आगरा-निवासी गुजराती औदीच्य ब्राह्मण थे और उस नगर के बलका की बस्ती गोकुलपुरा में रहते थे। इनके पिता का नाम चैनसुख जी था जो बड़ी दरिद्रावस्था में थे और पुरोहिताई

तथा आकाशवृत्ति से किसी प्रकार अपना कार्य चलाते थे। इनके चार पुत्र थे जिनके नाम क्रमशः लल्लूजी, दयालजी, मोतीरामजी और चुन्नीलालजी थे। सबसे बड़े ये लल्लूजी लाल थे जिनके जन्म का समय निश्चित रूप से अभी तक ज्ञात नहीं हुआ है; पर संभवतः इनका जन्म सं० १८२० वि० के लगभग हुआ होगा। इन्होंने घर ही पर कुछ संस्कृत, फारसी और ब्रज-भाषा का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। जब सं० १८४० वि० में इनके पिता स्वर्ग को सिधारे, तब अधिक कष्ट होने के कारण ये सं० १८४३ वि० में जीविका की खोज में मुर्शिदाबाद आए। यहाँ कृपासखी के शिष्य गोस्वामी गोपालदास जी के परिचय और सत्संग से इनकी पहुँच वहाँ के नवाब मुबारकउद्दौला के दरबार में हो गई। नवाब ने इन पर प्रसन्न होकर इनकी जीविका बाँध दी जिससे ये आराम से वहाँ सात वर्ष तक रहे। सं० १८५० वि० में गोस्वामी गोपालदास जी की मृत्यु हो जाने और उनके भाई गोस्वामी रामरंग कौशल्यादास जी के बर्दवान चले जाने से इनका चित्त उस स्थान से ऐसा उचाट हुआ कि नवाब के आग्रह करने पर भी उनसे बिदा हो ये कलकत्ते चले गए।

नाटौर की प्रसिद्ध रानी भवानी के दत्तक पुत्र महाराज रामकृष्ण से कलकत्ते में इनका परिचय हो गया और ये कुछ दिन उन्हीं के आश्रय में वहाँ रहे। जब इनके राज्य का नये रूप से प्रबंध हो गया और उन्हें उनका राज्य भी मिल गया, तब ये भी उनके साथ नाटौर गए। कई वर्ष के अनंतर जब उनके राज्य में उपद्रव मचा और वे क़ैद किए जाकर मुर्शिदाबाद लाए गए, तब ये भी उनसे बिदा होकर सं० १८५३ में कलकत्ते लौट आए जहाँ ये कुछ दिन चितपुर रोड पर रहे। वहाँ के कुछ बाबू लोगों ने प्रकट में तो इनका बहुत कुछ आदर-सत्कार किया, पर कुछ

सहायता न की, क्योंकि वे लिखते हैं—"उन्हीं के थोथे शिष्टाचार में जो कुछ वहाँ से लाया था, सो बैठकर खाया।" कई वर्ष इन्हें जीविका का कष्ट बना रहा। तब अंत में घबराकर जीविका की खोज में ये जगन्नाथ-पुरी गए। जब जगदीश के दर्शन करने गये थे, तब स्वरचित निर्वेदाष्टक सुनाकर उनकी स्तुति की थी, जिसका प्रथम दोहा यों है :—

विश्वंभर बनि फिरत हौ, भले बने महराज।
हमरी ओर निहारिकै, लखौ आपुनो काज॥

संयोग से नागपुर के राजा मनियाँ बाबू भी उसी समय जगदीश के दर्शन को आए हुए थे और वे खड़े-खड़े इनकी इस दैन्य स्तुति को, जिसे ये बड़ी दीनता के साथ पढ़ रहे थे, सुनते रहे। इससे उन्हें इन पर बड़ी दया आई और इनसे परिचय करके उन्होंने इन्हें अपने साथ नागपुर लिवा जाने के लिये बहुत आग्रह दिखलाया। इनका विचार भी वहाँ जाने का पक्का हो गया था; पर अभी तक इनके अदृष्ट ने इनका साथ नहीं छोड़ा था, जिससे ये उनके साथ नहीं जा सके और कलकत्ते लौट आए। बिदा होते समय मनियाँ बाबू ने सौ रुपये भेंट देकर इनका सत्कार किया था।

इन्हीं दिनों साहबों के पठन-पाठन के लिये जब कलकत्ते में एक पाठशाला खुली, तब इन्होंने गोपीमोहन ठाकुर से जाकर प्रार्थना की। उन्होंने अपने भाई हरिमोहन ठाकुर के साथ इन्हें भेजकर पादरी बुरन साहब से इनकी भेंट करा दी। उन्होंने आशा-भरोसा तो बहुत दिया, पर एक महीना व्यतीत हो जाने पर भी जब उनके किए कुछ नहीं हुआ, तब दीवान काशीनाथ खत्री के छोटे पुत्र श्यामाचरण के द्वारा डॉक्टर रसेल से एक अनुरोधपत्र प्राप्त करके इन्होंने डॉक्टर गिलक्रिस्ट से भेंट की, जो उन दिनों फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के प्रिंसिपल थे। इन्हीं

गिलक्रिस्ट साहब का, उर्दू-सत्संग लल्लूलालजी की विख्याति का मूल कारण हुआ।

साहब ने इन्हें ब्रज-भाषा की किसी कहानी को हिंदी-गद्य में लिखने की आज्ञा दी और अर्थ-साहाय्य के साथ-साथ इनके प्रार्थनानुसार दो मुसलमान लेखकों को, जिनके नाम मजहरअली खाँ विला और कासिम-अली जबाँ था, सहायतार्थ नियुक्त कर दिया। तब इन्होंने एक वर्ष (सं० १८५६ वि०) में परिश्रम करके चार पुस्तकों का ब्रज-भाषा से रेखते की बोली में अनुवाद किया। इन पुस्तकों के नाम सिंहासन-बत्तीसी, बैताल-पचीसी, शकुंतला नाटक और माधोनल हैं।

आगरे के तैराक बहुत प्रसिद्ध होते हैं। लल्लूजी भी वहाँ के निवासी होने के कारण तैरना अच्छा जानते थे। दैवात् एक दिन इन्होंने तट पर टहलते समय एक अँगरेज़ को गंगा जी में डूबते देखा। तब इन्होंने निडर होकर झटपट कपड़े उतार डाले और गंगा जी में कूद दो ही गोते में उसे निकाल लिया। वह अँगरेज़ ईस्ट इंडिया कंपनी का कोई पदाधिकारी था। उसने अपने प्राण-रक्षक की पूरी सहायता की और इन्हें कुछ धन देकर छापाखाना खुलवा दिया। उसी के अनुरोध से फोर्ट विलियम कॉलेज में इनकी वि० सं० १८५७ में पचास रुपये मासिक की आजीविका लग गई। बस इसके अनंतर इनकी प्रतिष्ठा और ख्याति बराबर बढ़ती चली गई। इन्होंने अपने प्रेस में, जिसका नाम संस्कृत प्रेस रखा था, अपनी पुस्तकें छपवाकर बेचना आरंभ कर दिया। कंपनी ने भी इस प्रेस के लिये बहुत कुछ सहायता दी, जिससे इसमें छपाई का अच्छा प्रबंध हो गया। यह यंत्रालय पहले पटलडाँगा में खोला गया था। इनके प्रेस की पुस्तकों पर सर्वसाधारण की इतनी श्रद्धा हो गई थी कि इनकी प्रकाशित रामायण

३०),४०),५०) को और प्रेमसागर १५), २०), ३०) को बिक जाते थे। इनके छापेखाने के छपे हुए ग्रंथों को एक शताब्दी से अधिक हो गया, पर वे ऐसे उत्तम, मोटे और सफ़द बाँसी कागज पर छपे थे कि अब तक नये और दृढ़ बने हुए हैं।

लल्लूजी २४ वर्ष तक फोर्ट विलियम कालेज में अध्यापक रहे और वि० सं० १८८१ में पेंशन लेकर स्वदेश लौटे। ये अपना छापाखाना भी आते समय नाव पर लादकर साथ ही आगरे लाए और वहाँ उसे खोला। आगरे में इस छापेखाने को जमाकर ये कलकत्ते लौट गए और वहीं इनकी मृत्यु हुई। इनकी कब और कैसे मृत्यु हुई, इसका इनके जन्म के समय के समान निश्चित समय ज्ञात नहीं हुआ; परंतु पेंशन लेते समय इनकी अवस्था लगभग ६० वर्ष की हो गई थी।

यद्यपि इनके भाइयों को संतान थी; पर ये निस्संतान ही रहे। इनकी पत्नी का इन पर असाधारण प्रेम था और वे इनके कष्ट के समय बराबर इनके साथ रहीं। ये वैष्णव तो अवश्य ही थे, पर किस संप्रदाय के थे, यह ठीक नहीं कहा जा सकता। फिर भी ये राधावल्लभीय ज्ञात होते हैं।

इतना तो स्पष्ट ही विदित है कि ये कोई उत्कट विद्वान् नहीं थे और न किसी विद्या के आचार्य होने का गर्व ही कर सकते थे। संस्कृत का बहुत कम ज्ञान रखते थे; उर्दू और अँगरेजी भी कुछ-कुछ जानते थे। पर ब्रज-भाषा अच्छी जानते थे। कवि भी ये कोई उच्च कोटि के नहीं थे। परंतु जिस समय ये अपनी लेखनी चला रहे थे, उस समय ये वास्तव में ठेठ हिंदी का स्वरूप स्थिर कर रहे थे। हिंदी-गद्य के कारण ही ये प्रसिद्ध और विख्यात हुए हैं। कुछ लोगों का यह कथन है कि यदि ये आजकल होते, तो कदापि इतने यश के

भागी न होते। पर यह तो न्यूटन आदि जगत्प्रसिद्ध विद्वानों के लिये भी कहा जा सकता है।

इन्होंने नीचे लिखे ग्रंथों की रचना की थी:—

"१. सिंहासनबत्तीसी—(खड़ी बोली)

२. बैतालपचीसी—(उर्दू भाषा)

३. शकुंतला नाटक—(खड़ी बोली)

४. माधोनल—(व्रज-भाषा)

५. माधवविलास—(गद्य-पद्य दोनों; व्रज-भाषा में)

६. सभाविलास—(पद्यों का संग्रह)

७. प्रेमसागर—(खड़ी बोली)

८. राजनीति—(व्रज-भाषा)

९. भाषा-कायदा—(खड़ी बोली का व्याकरण)

१०. लतायफ हिंदी—(उर्दू, हिंदी और व्रज-भाषा की कहानियों का संग्रह)

११. लालचंद्रिका—(गद्य टीका)"

पंडित सदल मिश्र आरे के रहनेवाले शाकद्वीपीय ब्राह्मण थे। इनके पूर्वजों में शुकदेव मिश्र पहले-पहल आरा जिले के ध्रुवडीहा ग्राम में आकर बसे थे। ये श्रीकृष्ण जी के अनन्य भक्त थे और एकांत जीवन निर्वाह करते थे; श्राद्ध, ब्राह्मण-भोजन आदि में सम्मिलित नहीं होते थे। इस कारण उस गाँव के अन्य ब्राह्मणों से इनकी अनबन हो गई और अंत में ये उस गाँव को छोड़ने के लिये बाध्य हुए। वहाँ से ये भदवर ग्राम में जाकर बसे। वहाँ के बाबू को पहले इन पर संदेह हुआ; पर जाँच करने पर जब उन्हें ज्ञात हुआ कि ये एक भगवत्भक्त सात्त्विक वृत्ति के ब्राह्मण हैं, तब उन्होंने इनका बड़ा आदर-सत्कार किया। उन्होंने

मिश्र जी को कई गाँव देने चाहे, पर संतोषी शुकदेव मिश्र ने केवल हसनपुरा नामक गाँव लेना स्वीकार किया। बहुत दिनों तक ये और इनके वंशधर इसी ग्राम में रहे; पर कुँअरसिंह के समय में ये लोग आरा नगर के मिश्र टोले में आकर बस गए और वहीं अब तक इनके वंशधर रहते हैं।

पंडित शुकदेव मिश्र के वंश में पंडित लक्ष्मण मिश्र हुए। इनके तीन पुत्र थे—कृष्णमणि मिश्र, धैर्यमणि मिश्र और नंदमणि मिश्र। इन तीनों भाइयों का वंश चला और अब तक उनके उत्तराधिकारी वर्तमान हैं। नंदमणि मिश्र के तीन पुत्र हुए—बदल मिश्र, सदल मिश्र और सीताराम मिश्र। यही सदल मिश्र नासिकेतोपाख्यान के रचयिता हैं। इस वंश के अनेक व्यक्ति प्रसिद्ध विद्वान् हुए हैं। पंडित सदल मिश्र भी संस्कृत के अच्छे पंडित थे। इनके वंशजों में यह प्रसिद्धि है कि अपनी विद्वत्ता के कारण ये पटने बुलाए गए थे और वहाँ से फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में काम करने के लिये भेजे गए थे। नासिकेतोपाख्यान की प्रस्तावना से यह स्पष्ट नहीं होता कि सदल मिश्र स्वयं नौकरी की खोज में कलकत्ते गए अथवा पटने बुलाए जाकर वहाँ से कलकत्ते भेजे गए। जो कुछ हो, यह तो स्पष्ट ही है कि कलकत्ते के फ़ोर्ट विलिमय कॉलेज में ये नौकर हो गए।

बाबू शिवनंदन सहाय लिखते हैं—"संवत् १९०४ का इनके नाम का एक बयनामा हमारे देखने में आया है, जो इस समय इनके पौत्र पंडित रघुनंदन मिश्र जी के पास है। इसके पहले के कागजों में भी इनका नाम है। १९०५ संवत् के एक कागज में इनका नाम न होकर केवल इनके वंशधरों का नाम देखा जाता है।" इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि संवत् १९०४ और १९०५ के बीच में पंडित सदल

मिश्र की मृत्यु हुई। इनके वंशधरों का कहना है कि पंडित सदल मिश्र ने ८० वर्ष की आयु पाई थी। इस हिसाब से इनका जन्म संवत् १८२४-२५ के लगभग होना चाहिए। इनके वंशधरों का यह भी कहना है कि २४-२५ वर्ष की अवस्था में ये कलकत्ते गए थे, जो संवत् १८५० के लगभग पड़ती है। संवत् १८६० में इन्होंने नासिकेतोपाख्यान का अनुवाद किया था। स्वयं यह भी लिखते हैं कि मैंने "दो-एक संस्कृतग्रंथों से भाषा और भाषा से संस्कृत किए।" पर वे सब ग्रंथ अब कहीं मिलते नहीं। संवत् १८८८ में इन्होंने ११,०००) पर सिंगही गाँव, वयगुलफा और हसनपुरा का ठीका लिया था। ऐसा जान पड़ता है कि कलकत्ते में ३०-३५ वर्ष सेवा कर और बहुत-सा धन कमा कर ये अपने घर लौट आए थे। संवत् १८६७ में इन्होंने तुलसीदास के रामचरितमानस का एक संस्करण संशोधित करके छपवाया था। इस संस्करण की एक प्रति काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में है। संवत् १८९३ में फ़ोर्ट विलियम कॉलेज टूट गया था। अतएव उसके पूर्व ही उनका घर लौट आना संभव जान पड़ता है। अब तक इनके एक ही ग्रंथ का पता लगा है।"

सन् १९०१ में कलकत्ते की एसियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय में रक्षित हस्तलिखित हिंदीपुस्तकों की जाँच करते हुए मुझे उनकी अनुवादित चंद्रावती अथवा नासिकेतोपाख्यान की एक प्रति प्राप्त हुई थी। उस प्रति के आधार पर उसे संपादित कर मैंने 'नागरी-प्रचारिणी ग्रंथमाला' में प्रकाशित करवाया था।

लाला सदासुख राय और पंडित सदल मिश्र की भाषा प्रौढ़ और परिमार्जित है और उसमें वह शिथिलता या अस्थिरता नहीं है, जो लल्लजी लाल के प्रेमसागर में देख पड़ती है।

सैयद इंशाउल्लाह खाँ के पूर्वज समरकंद के एक प्रतिष्ठित वंश के थे। ये लोग पहले कश्मीर में आकर रहे और फिर वहाँ से दिल्ली आए। वहाँ शाही दरबार में इन लोगों का अच्छा मान हुआ। इंशाउल्ला खाँ के पिता माशाउल्लाह खाँ अच्छे कवि और हकीम थे। यथासमय वे भी अपने पूर्व पुरुषों की भाँति तत्कालीन बादशाह के दरबार में हकीम नियत हुए। पर उस समय चगताई वंश की शक्ति क्षीण हो चुकी थी; अतएव माशाउल्लाह खाँ ने दिल्ली छोड़कर मुर्शिदाबाद जा बसने की ठानी। वहाँ के नवाब के यहाँ उनका अच्छा आदर हुआ। नवाब सिराजुद्दौला का नाम इतिहास-प्रसिद्ध है। वही उस समय बंगाल के अधिकारी थे। उनके दरबार में विद्वानों और गुणीजनों का अच्छा आदर होता था। माशाउल्लाह खाँ मुर्शिदाबाद में बस गए और आनंद से अपने दिन बिताने लगे। वहीं उनके पुत्र इंशाउल्लाह खाँ का जन्म हुआ। बालक इंशाउल्लाह खाँ का स्वभाव चंचल और बुद्धि तीव्र थी। पिता से शिक्षा पाकर ये छोटी अवस्था में ही कविता करने लग गए थे। जब बंगाल में राजनीतिक अवस्था चिंताजनक हुई, तब सैयद इंशाउल्लाह खाँ मुर्शिदाबाद से दिल्ली चले आए। उस समय दिल्ली के राजसिंहासन पर शाह आलम विराजते थे। यद्यपि वे धन और शक्तिहीन थे, नाम-मात्र के बादशाह रह गए थे, तथापि उनको काव्य से प्रेम था। वे स्वयं कविता करते थे और गुणी कवियों का आदर भी करते थे। उन्होंने इंशाउल्लाह खाँ को अपने दरबार में रख लिया। इंशाउल्लाह खाँ बड़े विनोदप्रिय थे। वे केवल कविता ही नहीं करते थे, बल्कि समय-समय पर विनोदमय कहानियाँ भी रचकर दरबार में सुनाया करते थे, जिससे उनकी बहुत कुछ पूछ रहती; और मान-मर्यादा की भी कमी न थी। पर यह सब मान-मर्यादा खोखली थी। दिल्लीपति शाह आलम

धनहीन होने के कारण इनकी यथेष्ट आर्थिक सहायता नहीं कर सकते थे; इसलिये इन्हें प्रायः अर्थ-कष्ट बना रहता था। निदान इन्हें अपने कष्टों की निवृत्ति के लिये किसी दूसरे दरबार का आश्रय लेने की आवश्यकता अनिवार्य हो गई। उस समय अवध के नवाब आसफुद्दौला के दान और उदारता की चर्चा चारों ओर फैल रही थी। 'जिसको न दे मौला, उसे दे आसफुद्दौला' तक लोग प्रायः कहा करते थे। सैयद साहब ने भी इसी दरबार का आश्रय लेने का निश्चय किया। ये लखनऊ आए और नवाब साहब की सेवा में उपस्थित हुए। क्रमशः इनका मान बढ़ने लगा। कुछ समय के अनंतर एक दिन यों ही हँसी-हँसी में इनमें और नवाब साहब में कुछ मनमुटाव हो गया। तब से ये दरबार छोड़कर एकांतवास करने लगे। सात वर्ष एकांतवास में बिता संवत् १८७३ में ये स्वर्ग को सिधारे।

सैयद इंशाउल्लाह खाँ फारसी और अरबी भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे। आपने उर्दू में भी कविता की है। प्रांतीय बोलियों से भी आप भली भाँति परिचित थे और कभी-कभी उसका प्रयोग भी कर लेते थे; जैसे "झाड़ू मियाँ को भुइँ पै पटकिस घुमाय के।" जिस समय सैयद साहब लखनऊ में थे, उस समय आपने रानी केतकी की कहानी लिखी। ऐसा अनुमान होता है कि यह कहानी १८५६ और १८६६ के बीच में लिखी गई होगी। इस कहानी के लिखने का उद्देश्य तो यह था कि एक ऐसी रचना की जाय जिसमें 'हिंदी की छुट और किसी बोली की पुट न मिले' और 'हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो।' इस उद्देश्य से प्रेरित हो सैयद इंशाउल्लाह खाँ ने इस कहानी की रचना की और उसमें उन्हें अच्छी सफलता प्राप्त हुई। पहले तो कहानी मौलिक है, किसी की छाया नहीं है और न किसी के आधार पर लिखी गई है। कहने का ढंग

भी चित्ताकर्षक और मनोहर है। जहाँ-तहाँ उसमें कविता भी दी गई है, पर वह उच्च कोटि की नहीं। सबसे बढ़कर बात जो इस कहानी में है, उसकी भाषा है। एक तो अरबी, फारसी और उर्दू के विद्वान् होने पर भी आपने ठेठ हिंदी में रचना की जो आपकी कुशलता प्रमाणित करती है। दूसरे इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि अब तक हिंदी-गद्य का कोई स्वरूप पूर्णतया निश्चित नहीं हुआ था। सदासुख राय लल्लूजी लाल, सदल मिश्र और इंशाउल्लाह खाँ ये इसके प्रथम आचार्य, इसके स्वरूप की नींव रखनेवाले तथा हिंदी-साहित्य के लिये एक नये पथ के प्रदर्शक हुए हैं। चारों महानुभाव समकालीन थे और चारों की रचनाएँ भी लगभग एक ही समय में हुईं; पर सदासुख राय के भागवत, लल्लूजी लाल के लिये चतुर्भुजदास का भागवत और सदल मिश्र के लिये संस्कृत का नासिकेतोपाख्यान उपस्थित था। इंशाउल्लाह खाँ के लिए ऐसा कोई आधार न था। लल्लूजी लाल की भाषा अपनी अस्थिरता का प्रत्यक्ष प्रमाण दे रही है। न शब्दों का रूप ही निश्चित हुआ है और न व्याकरण-संबंधी नियमों का निर्धारण होकर प्रयोगों में स्थिरता हो आई है। तुकबंदी, अनुप्रास और कवितामय भाषा उनकी विशेषताएँ हैं। सदल मिश्र की भाषा लल्लूजी लाल की भाषा से अधिक पुष्ट और परिमार्जित है। स्वभावतः इसे लल्लूजी लाल की रचना के पीछे का होना चाहिए था। यदि लल्लूजी लाल के प्रेमसागर रचने का समय तथा सदल मिश्र के नासिकेतोपाख्यान के निर्माण का समय न दिया होता और केवल दोनों की भाषा को ही आधार मानकर उनके रचनाकालों का निश्चय करना होता, तो इस परीक्षा में लल्लूजी लाल पहले के और सदल मिश्र पीछे के माने जाते। पर वास्तव में दोनों समकालीन थे और दोनों के ग्रंथ भी लगभग एक ही समय में रचे गए। लल्लूजी लाल का प्रेमसागर

संवत् १८६६ में पूरा होकर प्रकाशित हुआ, यद्यपि उसका बनना संवत् १८६० में आरंभ हो गया था। सदल मिश्र का नासिकेतोपाख्यान संवत् १८६० में बना। और सदासुख राय के ग्रंथ १८६८ में समाप्त हुए। सारांश यह कि चारों के ग्रंथ एक ही समय में बने। तीन की भाषा में प्रौढ़ता है, चौथे में अस्थिरता है। अवश्य ही इसका कोई कारण होना चाहिए। मेरी समझ में लल्लूजी लाल कोई बड़े विद्वान् नहीं थे। उन्होंने चतुर्भुज-दास का अनुकरण बहुत अधिक किया और वे उनकी भाषा के प्रभाव में बेतरह पड़ गए हैं। सदल मिश्र पंडित थे और उन्होंने अपनी शक्ति पर भरोसा करके रचना की। इस दृष्टि से सदल मिश्र का आसन लल्लूजी लाल से ऊँचा है। सदासुख राय की भाषा परिपुष्ट है। वे सदल मिश्र के समकक्ष रखे जा सकते हैं।

इंशाउल्लाह खाँ का ढंग निराला है। यद्यपि उन्होंने प्रतिज्ञा तो यह की थी कि हिंदवीपन भी न निकले, भाखापन भी न हो; पर वे कहाँ तक इसके पूरा करने में सफल हो सके हैं, यह विचारणीय है। इसका निर्णय 'हिंदवीपन' और 'भाखापन' इन दो शब्दों के अर्थों पर निर्भर करता है। अवश्य ही ये दोनों शब्द समानार्थक नहीं हैं। मेरा अनुमान है कि 'हिंदवीपन' से सैयद साहब का तात्पर्य यही था कि हिंदी के शब्दों का ही प्रयोग हो, फारसी और अरबी आदि विदेशी भाषाओं से शब्दों की मिलावट न हो। भाखापन से उनका अर्थ यही हो सकता है कि प्रांतीय बोलियों जैसे व्रज-भाषा या अवधी आदि के व्याकरण का अनुकरण न किया जाय। खड़ी बोली में अभी तक गद्य की रचना प्रायः आरंभ नहीं हुई थी। संभव है कि लल्लूजी लाल और सदल मिश्र की रचनाओं का सैयद इंशाउल्लाह खाँ को अभी तक पता भी न चला हो। अतएव सैयद साहब ने अपनी रचना के लिए जो दो प्रतिबंध स्वयं अपने

ऊपर आरोपित कर लिए थे, उनका यही भाव था कि विदेशी शब्दों का प्रयोग न हो और वाक्यों की रचना वैसी न हो, जिसे हम लोग उर्दूपन कहते हैं।

यद्यपि उर्दू की जननी हिंदी की खड़ी बोली है, पर बहुत ग्रंथों में अब यह दिनों दिन स्वतंत्र होती जा रही है। उर्दू की उत्पत्ति का मुख्य कारण राजनीतिक स्थिति है। इसका आकार-प्रकार तो आरंभ में सर्वथा खड़ी बोली का था; अर्थात् उर्दू का व्याकरण खड़ी बोली के अनुसार था और उसमें उसी के नियमों का अनुशासन माना जाता था, पर शब्दों के लिये कोई प्रतिबंध नहीं था। हिंदी, तुर्की, अरबी, फारसी सब भाषाओं के शब्द जो साधारणतः समझ में आ सकते थे, प्रचुरता से प्रयुक्त होते थे। राजाश्रय पाकर इस भाषा ने क्रमशः उन्नति की और मुसलमानों से पाली-पोसी जाकर तथा उसके आदर और स्नेह की भाजन होकर इसने उनका अनुकरण करने में ही अपने जीवन का साफल्य समझा। क्रमशः फारसी प्रयोगों का इसमें प्रवेश होने लगा और इस उपाय से यह अपना व्यक्तित्व स्वतंत्र करने के उद्योग में लगी। इस समय हिंदी और उर्दू का विभेद चार बातों में स्पष्ट देख पड़ता है :—

(१) उर्दू में अरबी-फारसी के शब्दों का तत्सम रूप में अधिकता से प्रयोग।

(२) उर्दू पर फारसी के व्याकरण का बढ़ता हुआ प्रभाव; जैसे बहुवचन का रूप प्रायः फारसी के अनुसार होता है।

(३) संबंध, करण, अपादान और अधिकरण कारकों की विभक्तियाँ हिंदी के अनुसार न होकर फारसी के शब्दों या चिह्नों-द्वारा प्रदर्शित की जाती हैं।

(४) वाक्य-विन्यास का ढंग उलटा हो रहा है। हिंदी में पहले कर्त्ता तब कर्म और अंत में क्रिया होती है; पर उर्दू में इस क्रम में उलट-फेर होता है।

इस आधुनिक अवस्था को जब हम इंशाउल्लाह खाँ की रचना से मिलाते हैं, तब हमें यह विदित होता है कि इस पृथक्कृता का सूत्रपात उसी समय हो गया था, यद्यपि उसने इतनी स्पष्टता नहीं धारण की थी। ऊपर जिन चार विभेद-सूचक बातों का उल्लेख किया गया है, उनमें से पहली तीन बातें तो इंशाउल्लाह खाँ की कृति में नहीं मिलतीं; पर चौथी का आरंभ स्पष्ट देख पड़ता है। अतएव हमें यह कहने में संकोच नहीं है कि इंशाउल्लाह खाँ की भाषा-शैली उर्दू ढंग की है। पर साथ ही हमें यह मानने में कुछ भी संकोच नहीं है कि लल्लूजी लाल, सदासुख राय तथा सदल मिश्र की अपेक्षा इनकी भाषा-शैली मनोहर है। हिंदी और उर्दू के गद्य में वैसा ही अंतर है, जैसा एक प्रौढ़ा स्त्री तथा एक रूपगर्विता नवयौवना में होता है। हिंदी में वह चपलता, चंचलता, इतराना, इठलाना नहीं देख पड़ता जो उर्दू में देख पड़ता है। मुसलमानी दरबार का आश्रय पा और अपने उपासकों की स्नेह-भाजन हो उर्दू का ऐसा न करना आश्चर्य की बात होती। भाषा मनुष्य की अंतरात्मा का बाह्य रूप है। जैसे मन में भाव होते हैं, जैसी अंतरात्मा की स्थिति होती है वैसी ही भाषा भी होती है। इसलिए यदि हम उर्दू-गद्य में उस चंचलता के लक्षण पाते हैं, जो मुसलमानी दरबार में आने-जानेवाली मुसलमान कामिनियों के लिये आवश्यक और अनिवार्य था, तो इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है। सैयद इंशाउल्लाह खाँ की भाषा-शैली उर्दू-गद्य के डेढ़ सौ वर्ष पुराने रूप का एक बहुत अच्छा उदाहरण है। यद्यपि अधिकांश शब्द ठेठ हिंदी के हैं, पर उर्दू-मुहावरों का अधिकता से

प्रयोग हुआ है; और तुकबंदियों ने तो सैयद साहब को बेतरह घेर रक्खा है। सारांश यह कि सैयद इंशाउल्लाह खाँ की पुस्तक हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं के पृष्ठ-पोषकों के लिये समान आदर की वस्तु है और हिंदी-गद्य की विकास-लड़ी की एक सुंदर और चमकती हुई कड़ी है।

इंशाउल्लाह खाँ की भाषा में एक विशेषता है जिसे जान लेना आवश्यक है। आधुनिक हिंदी और उर्दू में कृदंत क्रियाओं और विशेषणों का प्रयोग होता है, पर उनमे वचनसूचक चिह्न नहीं रहते। पुरानी उर्द में यह बात नहीं थी। उसमें वचनसूचक चिन्हों का प्रयोग होता था। इंशाउल्लाह खाँ ने भी ऐसे प्रयोग किए हैं, जैसे आतियाँ जातियाँ जो साँसें हैं। पासलियाँ बहलातियाँ हैं, इत्यादि। मेरी समझ में यह प्रभाव पंजाबी के कारण पड़ा है जिसमें अब तक ऐसे प्रयोग होते हैं।

मुंशी इंशाउल्लाह खाँ की कहानी को पहले-पहल राजा शिवप्रसाद ने अपने गुटके के तीसरे भाग में छापा था। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, इसका कोई स्वतंत्र संस्करण तब तक प्रकाशित नहीं हुआ था। जब मैं लखनऊ में था, तब मुझे इसकी एक हस्त-लिखित प्रति तथा फारसी अक्षरों में छपी हुई एक प्रति प्राप्त हुई थी, जिसके आधार पर 'काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा' ने इसका एक संस्करण प्रकाशित किया।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उससे स्पष्ट है कि आधुनिक हिंदी-गद्य के प्रथम आचार्य इंशाउल्लाह खाँ, लल्लूजी लाल, सदल मिश्र और सदासुख राय हैं। लल्लूजी लाल और सदल मिश्र तो फोर्ट विलियम कॉलेज में नौकर थे, सदासुख राय मुसलमानी दरबार में नौकर थे,

(४) वाक्य-विन्यास का ढंग उलटा हो रहा है। हिंदी में पहले कर्त्ता तब कर्म और अंत में क्रिया होती है; पर उर्दू में इस क्रम में उलट-फेर होता है।

इस आधुनिक अवस्था को जब हम इंशाउल्लाह खाँ की रचना से मिलाते हैं, तब हमें यह विदित होता है कि इस पृथक्कृता का सूत्रपात उसी समय हो गया था, यद्यपि उसने इतनी स्पष्टता नहीं धारण की थी। ऊपर जिन चार विभेद-सूचक बातों का उल्लेख किया गया है, उनमें से पहली तीन बातें तो इंशाउल्लाह खाँ की कृति में नहीं मिलतीं; पर चौथी का आरंभ स्पष्ट देख पड़ता है। अतएव हमें यह कहने में संकोच नहीं है कि इंशाउल्लाह खाँ की भाषा-शैली उर्दू ढंग की है। पर साथ ही हमें यह मानने में कुछ भी संकोच नहीं है कि लल्लूजी लाल, सदासुख राय तथा सदल मिश्र की अपेक्षा इनकी भाषा-शैली मनोहर है। हिंदी और उर्दू के गद्य में वैसा ही अंतर है, जैसा एक प्रौढ़ा स्त्री तथा एक रूपगर्विता नवयौवना में होता है। हिंदी में वह चपलता, चंचलता, इतराना, इठलाना नहीं देख पड़ता जो उर्दू में देख पड़ता है। मुसलमानी दरबार का आश्रय पा और अपने उपासकों की स्नेह-भाजन हो उर्दू का ऐसा न करना आश्चर्य की बात होती। भाषा मनुष्य की अंतरात्मा का बाह्य रूप है। जैसे मन में भाव होते हैं, जैसी अंतरात्मा की स्थिति होती है वैसी ही भाषा भी होती है। इसलिए यदि हम उर्दू-गद्य में उस चंचलता के लक्षण पाते हैं, जो मुसलमानी दरबार में आने-जानेवाली मुसलमान कामिनियों के लिये आवश्यक और अनिवार्य था, तो इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है। सैयद इंशाउल्लाह खाँ की भाषा-शैली उर्दू-गद्य के डेढ़ सौ वर्ष पुराने रूप का एक बहुत अच्छा उदाहरण है। यद्यपि अधिकांश शब्द ठेठ हिंदी के हैं, पर उर्दू-मुहावरों का अधिकता से

प्रयोग हुआ है; और तुकबंदियों ने तो सैयद साहब को बेतरह घेर रक्खा है। सारांश यह कि सैयद इंशाउल्लाह खाँ की पुस्तक हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं के पृष्ठ-पोषकों के लिये समान आदर की वस्तु है और हिंदी-गद्य की विकास-लड़ी की एक सुंदर और चमकती हुई कड़ी है।

इंशाउल्लाह खाँ की भाषा में एक विशेषता है जिसे जान लेना आवश्यक है। आधुनिक हिंदी और उर्दू में कृदंत क्रियाओं और विशेषणों का प्रयोग होता है, पर उनमे वचनसूचक चिह्न नहीं रहते। पुरानी उर्द में यह बात नहीं थी। उसमें वचनसूचक चिन्हों का प्रयोग होता था। इंशाउल्लाह खाँ ने भी ऐसे प्रयोग किए हैं, जैसे आतियाँ जातियाँ जो साँसें हैं। पासलियाँ बहलातियाँ हैं, इत्यादि। मेरी समझ में यह प्रभाव पंजाबी के कारण पड़ा है जिसमें अब तक ऐसे प्रयोग होते हैं।

मुंशी इंशाउल्लाह खाँ की कहानी को पहले-पहल राजा शिवप्रसाद ने अपने गुटके के तीसरे भाग में छापा था। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, इसका कोई स्वतंत्र संस्करण तब तक प्रकाशित नहीं हुआ था। जब मैं लखनऊ में था, तब मुझे इसकी एक हस्त-लिखित प्रति तथा फारसी अक्षरों में छपी हुई एक प्रति प्राप्त हुई थी, जिसके आधार पर 'काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा' ने इसका एक संस्करण प्रकाशित किया।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उससे स्पष्ट है कि आधुनिक हिंदी-गद्य के प्रथम आचार्य इंशाउल्लाह खाँ, लल्लूजी लाल, सदल मिश्र और सदासुख राय हैं। लल्लूजी लाल और सदल मिश्र तो फोर्ट विलियम कॉलेज में नौकर थे, सदासुख राय मुसलमानी दरबार में नौकर थे,

पर वहाँ की रहन-सहन का प्रभाव उनके मानसिक और साहित्यिक जीवन पर नहीं पड़ा और इंशाउल्लाह खाँ लखनऊ के नवाब आसुफुद्दौला के दरबारियों में थे। इंशाउल्लाह खाँ की भाषा में उर्दूपन के आरंभिक रूप के दर्शन होते हैं, जब तक कि उर्दू हिंदी से अलग नहीं हुई थी और न अलग होने के उद्योग में ही लगी थी। लल्लूजी लाल की हिंदी पर चतुर्भुजदास की व्रज-भाषा का पुट चढ़ा हुआ है और वह अपेक्षाकृत अस्थिर और अपरिमार्जित है। सदल मिश्र की हिंदी लल्लूजी लाल की हिंदी की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ और परिमार्जित है। यह अवस्था सदासुख राय की भाषा की भी है। अतएव भाषा की दृष्टि से विवेचन करने पर आचार्यों में पहला स्थान इंशाउल्लाह खाँ, दूसरा सदासुख राय, तीसरा सदल मिश्र और चौथा लल्लूजी लाल को मिलना चाहिए।

इन चारों महानुभावों के इस प्रकार आधुनिक हिंदी-गद्य का आरंभ कर लेने के पीछे कोई ५०-६० वर्ष तक फिर यह सुषुप्त अवस्था में रहा। केवल मिशनरियों की कृपा से यह जीवित रहा। इन पादड़ियों ने मुख्यतः अपने धर्म के प्रचार के उद्देश्य से बाइबिल आदि के अनुवाद तथा ख्रीष्टीय भजनों के संग्रह छापे। साथ ही स्कूली पुस्तकों की ओर भी इनका ध्यान गया। इन पुस्तक-प्रकाशकों के उस समय चार केंद्र थे—कलकत्ता, शिवरामपुर, मिर्जापुर और आगरा। इन चारों स्थानों से अनेक पुस्तकें हिंदी में प्रकाशित हुईं। इस प्रकार यह गद्यरूपी बालक जीवित रहा। ५०-६० वर्ष पीछे जब यह किशोर-अवस्था को प्राप्त हुआ तब इसके पुत्र उर्दू ने इसे गला घोंटकर मार डालना चाहा, पर राजा शिवप्रसाद ने उसकी रक्षा की। भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय तक यह अधमरी अवस्था में रहा। हाँ, राजा लक्ष्मणसिंह ने इसे कुछ

पौष्टिक ओषधि दी। पर हरिश्चंद्र ने अपना सर्वस्व अर्पण कर इसे ऐसी जीवनीशक्ति प्रदान दी कि वह बलवान् होकर मैदान में आगया और फिर तो नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना तथा सरस्वती के प्रकाशन से उसने वह बल पाया कि एक शक्तिशाली युवक के रूप में वह अपनी उन्नति कर चला। उस समय से लेकर आज तक उसकी सेवा-शुश्रूषा करनेवालों में से उन ५१ महानुभावों के कार्यों का इस पुस्तक में उल्लेख है जिन्होंने अपनी-अपनी रीति पर इसे अधिक शक्तिशाली बनाने तथा उसके भविष्य मार्ग को सुरम्य और सुव्यवस्थित बनाने का सफल उद्योग किया। इनमें से जन्म-क्रम के अनुसार पहले राजा शिवप्रसाद और अंतिम बाबू जयशंकरप्रसाद हैं। इन ५१ महानुभावों में से ८ ने ७० वर्ष के ऊपर आयु पाई। इनमें भी सबसे अधिक आयु रायबहादुर लाला सीताराम ने पाई। सबसे छोटी आयु पानेवाले वे स्वनाम धन्य भारतेंदु जी हुए जिन्होंने अपने आपको हिंदी-साहित्य की सेवा में बलि कर दिया। सबसे अधिक महानुभावों का निधन संवत् १९८१--१९९० के बीच में हुआ। और सबसे अधिक महानुभावों ने संवत् १९१० और १९२० के बीच में जन्म ग्रहण किया।

निर्माताओं की सूची

		जन्म	निधन	आयु
(१)	राजा शिवप्रसाद, सितारेहिंद	१८८०	१९५२	७२
(२)	राजा लक्ष्मणसिंह	१८८३	१९५३	७०
(३)	बाबू नवीनचंद्र राय	१८९५	१९४७	५२
(४)	पंडित बालकृष्ण भट्ट	१९०१	१९७१	७०
(५)	बाबू तोताराम	१९०४	१९५९	५५
(६)	मुंशी देवीप्रसाद	१९०४	१९८०	७६
(७)	राजा रामपालसिंह	१९०५	१९६६	६१
(८)	बाबू गदाधरसिंह	१९०५	१९५५	५०
(९)	रायबहादुर पंडित लक्ष्मीशंकर मिश्र	१९०६	१९६३	५७
(१०)	भारतेंदु हरिश्चंद्र	१९०७	१९४२	३५
(११)	लाला श्रीनिवासदास	१९०८	१९४४	३६
(१२)	बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री	१९०८	१९६१	५३
(१३)	पंडित भीमसेन शर्म्मा	१९११	१९७४	६३
(१४)	पंडित केशवराम भट्ट	१९११	१९६२	५१
(१५)	पंडित बदरीनारायण चौधरी	१९१२	१९८०	६८
(१६)	पंडित विनायक राव	१९१२	१९८१	६९
(१७)	पंडित प्रतापनारायण मिश्र	१९१३	१९५१	३८
(१८)	ठाकुर जगमोहनसिंह	१९१४	१९५६	४२

	जन्म निधन	आयु
(१९) रायबहादुर लाला सीताराम	१९१५-१९९३	७८
(२०) पंडित राधाचरण गोस्वामी	१९१५-१९५७	४२
(२१) पंडित अंबिकादत्त व्यास	१९१५-१९५७	४२
(२२) पंडित नाथूराम शंकर शर्म्मा	१९१६-१९८९	७३
(२३) पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र	१९१६-१९६७	५१
(२४) पंडित गोविंदनारायण मिश्र	१९१६-१९८३	६४
(२५) बाबू रामकृष्ण वर्म्मा	१९१६-१९६३	४७
(२६) पंडित श्रीधर पाठक	१९१६-१९८५	६९
(२७) महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी	१९१७-१९६७	५०
(२८) बाबू शिवनंदन सहाय	१९१७-१९८९	७२
(२९) बाबू देवकीनंदन खत्री	१९१८-१९७०	५२
(३०) पंडित लज्जाराम मेहता	१९२०-१९८८	६८
(३१) पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी	१९२१-१९९५	७४
(३२) बाबू बालमुकुंद गुप्त	१९२२-१९६४	४२
(३३) बाबू ठाकुरप्रसाद	१९२२-१९७४	५२
(३४) बाबू राधाकृष्णदास	१९२२-१९६४	४२
(३५) पंडित किशोरीलाल गोस्वामी	१९२२-१९८९	६७
(३६) लाला भगवानदीन	१९२३-१९८७	६४
(३७) रायबहादुर डॉक्टर हीरालाल	१९२३-१९९१	६८
(३८) बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर	१९२३-१९८९	६६
(३९) पंडित शिवनाथ शर्म्मा	१९२४-१९८५	६०
(४०) राय देवीप्रसाद पूर्ण	१९२५-१९७२	४७
(४१) ठाकुर गदाधरसिंह	१९२६-१९७५	४९

	जन्म निधन	आयु
(४२) पंडित गंगाप्रसाद अग्निहोत्री	१९२७-१९८८	६१
(४३) पंडित माधवराव सप्रे	१९२८-१९८८	६०
(४४) पंडित माधवप्रसाद मिश्र	१९२८-१९६४	३६
(४५) पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी	१९३२-१९९६	६४
(४६) पंडित पद्मसिंह शर्म्मा	१९३३-१९८९	५६
(४७) मुंशी प्रेमचंद	१९३७-१९९३	५६
(४८) सरदार पूर्णसिंह	१९३८-१९८८	५०
(४९) बाबू रामदास गौड़	१९३८-१९९४	६४
(५०) पंडित चंद्रधर शर्म्मा गुलेरी	१९४०-१९७९	३९
(५१) बाबू जयशंकरप्रसाद	१९४६-१९९४	४८

राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद ।

हिंदी के निर्माता

(१) राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद

प्रसिद्ध रणथंभौरगढ़ में धंधार नाम का एक प्रमार राजा राज्य करता था। वह जैन-धर्मावलंबी था। उसके पुत्र का नाम गोखरू था। हमारे राजा साहब इसी गोखरू गोत्र में थे। बादशाही समय में इनके पूर्वज दिल्ली में जौहरी का व्यवसाय करते थे। वे नादिर-शाही में दिल्ली से भागकर मुरशिदाबाद चले गए। नव्वाब कासिम-अली खाँ के अत्याचार से राजा शिवप्रसाद के पितामह राय डालचंद काशी में आ बसे।

इनके पुत्र बाबू गोपीचंद थे जिनके पुत्र हमारे चरितनायक राजा शिवप्रसाद थे। राजा साहब का जन्म मिती माघ सुदी २ संवत् १८८० में हुआ था। इनके घर की सब स्त्रियाँ पढ़ी-लिखी थीं, इसलिये पाँच ही वर्ष के शैशव से राजा शिवप्रसाद की शिक्षा का प्रबंध हो गया। पहले तो इन्होंने घर पर ही कुछ हिंदी और उर्दू पढ़ी। फिर बीबी हटिया के स्कूल में फारसी का अध्ययन करने लगे। इसके पीछे संस्कृत का भी अभ्यास किया। जब राजा साहब की कोई १३ या १४ वर्ष की अवस्था थी तब कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज के प्रोफेसर बाबू तारणीचरण मित्र पेंशनर का काशी-निवास के निमित्त बनारस में आना हुआ। उनके पुत्रों से और किशोर राजा शिवप्रसाद

से घनिष्ठ मित्रता हो गई, और उन्हीं से इन्होंने अँगरेजी और बँगला भाषाएँ सीखीं तथा १९ वर्ष की अवस्था में संस्कृत, हिंदी, अरबी, फारसी, अँगरेजी और बँगला में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली।

इस प्रकार अपनी शिक्षा समाप्त कर चुकने पर अपने मामा की सहायता से बाबू शिवप्रसाद भरतपुर-दरबार में नौकर हुए। वहाँ जाते ही आपने पहला कार्य यह किया कि राज्य के दीवान को, जो कि राजा को दबाए और रियासत पर अपना प्रभुत्व जमाए हुए था, अँगरेज सरकार की अनुमति से ८० कायस्थों सहित जेल भिजवाया और महाराज को स्वतंत्र कर दिया। इस कार्य से प्रसन्न होकर महाराज ने इन्हें अपना वकील नियुक्त किया। इस अवस्था में इन्होंने गवर्मेंट से लड़ाई के तकाजे के १८ लाख रुपये भरतपुर को माफ करवाए।

कुछ काल के पीछे ये भरतपुर की नौकरी छोड़कर घर चले आए और फिर भरतपुर न गए। सन् १८४५ ई० में राजा साहब ने अँगरेज सरकार की सेवा स्वीकार की। उस समय सिक्ख-युद्ध का आरंभ था। ये अँगरेजी सेना के साथ सरहद पर गए और गवर्नर जनरल के आज्ञानुसार वहाँ इन्होंने एक अत्यंत साहस, वीरता और स्वामिभक्ति का यह काम किया कि अकेले शत्रुसेना में जाकर वहाँ की तोपें गिन आए तथा और भी भेद ले आए। फिर आप ही अकेले महाराजा दिलीपसिंह को बंबई तक पहुँचाकर जहाज़ पर सवार करा आए।

सिक्खों से संधि हो चुकने पर जब गवर्नर जनरल शिमले गए तब इन्हें भी साथ लेते गए और इन्हें एक पद-विशेष पर नियुक्त किया। वहाँ इन्होंने बड़े परिश्रम से अपना काम किया जिससे ये दिन-

दिन अँगरेज कर्मचारियों के कृपापात्र होते गए। उसी कृपा के कारण राजा शिवप्रसाद ने वह सेवा और भक्ति की जो उनके जाननेवाले सब पुरुषों पर विदित है। आप सबके बुरे बने, पर अँगरेजों का पक्ष निबाहा। इनका मंतव्य था "जिसका खाना उसका गाना।"

शिमले से आकर राजा साहब ने कुछ दिन काशी में कमिश्नर साहब के मीरमुंशी का काम किया, परन्तु विद्या-विषयक रुचि के अनुसार सरकार ने उन्हें स्कूलों का इंस्पेक्टर नियत कर दिया। अपनी इंस्पेक्टरी में राजा साहब ने मातृभाषा हिंदी का जो उपकार किया उसके लिए हिंदी बोलनेवालों को उनका कृतज्ञ होना चाहिए। उस समय शिक्षा-विभाग में मुसलमानों का प्राबल्य था और वे चाहते थे कि हिंदी का पठन-पाठन ही उठा दिया जाय, केवल उर्दू-फारसी रहे। अँगरेज भी इस विषय में सहमत थे, क्योंकि हिंदी में तब तक कोई ऐसी पुस्तकें न थीं जो स्कूलों में पढ़ाई जा सकें। परंतु राजा साहब ने हिंदी का पक्ष ग्रहण किया और स्वयं उसमें अनेक ग्रंथ रचकर उक्त अभाव को दूर किया तथा भाषा की शिक्षा को स्थिर रखा। उन्होंने साहित्य, व्याकरण, भूगोल, इतिहास आदि विषयों पर सब मिलाकर कोई ३५ पुस्तकें लिखीं। आप बाबू हरिश्चंद्र के विद्या-गुरु थे।

सन् १८७२ ई० में उन्हें सी० एस० आई० की उपाधि मिली और सन् १८८७ में वंशपरंपरा के लिये "राजा" की पदवी प्राप्त हुई। आपका देहांत ता० २३ मई सन् १८९५ को काशी में हुआ।

राजा शिवप्रसाद उस हिंदी के समर्थक थे जो उर्दू-मिश्रित हो और सुगमता से देवनागरी और फारसी लिपियों में लिखी जा सके। जिस समय वे इस सिद्धांत को स्थिर कर कार्यान्वित करने लगे उस समय की स्थिति ही कुछ ऐसी थी कि हिंदी की रक्षा के लिये उन्हें

यह करना पड़ा। उनका संपादित किया हुआ 'गुटका' वामामनोरंजन तथा राजा भोज का सपना, रानीभवानी आदि लेख इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि वे हृदय से शुद्ध हिंदी के पक्षपाती थे, पर स्थिति को देखते हुए उन्होंने मिश्रित भाषा का पक्ष ग्रहण किया और उसके समर्थन में लेख लिखे। जो कुछ हो, उनके मिश्रित भाषा का पक्ष ग्रहण करने से हिंदी और उर्दू का घोर द्वंद्व आरंभ हुआ। साधारण रूप से विचार करने पर तो यही कहा जा सकता है कि उस समय तक न तो व्याकरण के नियमों का ही निर्वाह दिखाई पड़ता था और न भाषा का ही कोई रूप स्थिर हो सका था। रचना का विकास अवश्य हो रहा था और पठन-पाठन के विचार से अनेक विषयों में गद्य की पहुँच आरंभ हो गई थी तथा अनेक विषयों पर पुस्तकें लिखने का आरंभ भी हो गया था। संभव है कि राजा साहब का यह विश्वास रहा हो कि उर्दूपन का बहिष्कार किया जायगा तो भाषा की व्यावहारिकता नष्ट हो जायगी और उसमें भावद्योतन का चमत्कार तथा बल न आ सकेगा। जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं राजा साहब की दोरंगी नीति से घोर आंदोलन मच गया जिसमें उनके उर्दू-मिश्रित भाषा के लिखने-लिखाने का उद्योग असफल रहा। यह सब होते हुए भी राजा साहब की हितकामना आदरणीय है।

(२) राजा लक्ष्मणसिंह

राजा लक्ष्मणसिंह यदुवंशी क्षत्रिय थे। अपनी जन्मभूमि आगरा में इनका जन्म ९ अक्टूबर सन् १८२६ ई० को हुआ।

वैसे तो घरवालों ने इनकी शिक्षा पर उसी समय से ध्यान दिया जब से ये तोतली जिह्वा से बोलने लगे थे परंतु पाँच वर्ष की

राजा लक्ष्मणसिंह ।

अवस्था होने पर इन्हें विधिवत् विद्यारंभ कराया गया। जब इन्हें नागरी अक्षरों के लिखने का पूरा अभ्यास हो गया तब संस्कृत और फारसी की शिक्षा दी जाने लगी। ये तीव्रबुद्धि तो थे ही, बारह वर्ष की अवस्था तक इन्होंने फारसी और संस्कृत दोनों भाषाओं में वय-अनुसार अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। बारह वर्ष की अवस्था में यज्ञोपवीत हो जाने पर अँगरेजी भाषा की शिक्षा पाने के लिये इन्हें आगरा-कालेज में बैठाया गया। उस समय अब की तरह बी० ए०, एम० ए० आदि की परीक्षाएँ न होती थीं; केवल सीनियर, जूनियर परीक्षाएँ होती थीं। अस्तु, हमारे चरितनायक ने सीनियर परीक्षा पास की। कालेज में अँगरेजी के साथ इनकी दूसरी भाषा संस्कृत थी और घर पर ये हिंदी, अरबी और फारसी का अभ्यास किया करते थे। कालेज छोड़ने पर इन्होंने बँगला भी सीख ली। इस भाँति २४ वर्ष की अवस्था में इन्होंने कई एक भाषाओं में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली।

राजा लक्ष्मणसिंह कालेज से निकलकर पश्चिमोत्तर प्रदेश के छोटे लाट के दफ्तर में १००) मासिक वेतन पर अनुवाद करने के काम पर नौकर हुए। तीन वर्ष के पीछे इनका वेतन १५०) मासिक हुआ और ये सदर बोर्ड के दफ्तर में नियत हुए। इसके दो वर्ष पीछे सन् १८५५ ई० में इन्हें इटावे की तहसीलदारी मिली। उन दिनों इटावे में ह्यूम साहब कलेक्टर थे। वे इनके गुणों पर मोहित होकर इनसे अत्यंत प्रसन्न थे। अस्तु, उनकी सहायता से राजा साहब ने इटावे में ह्यूम हाई स्कूल स्थापित किया जो कि अब तक विद्यमान है और जिससे प्रतिवर्ष अच्छे-अच्छे योग्य विद्यार्थी पास होते हैं। इनकी कार्य-प्रणाली से अत्यंत प्रसन्न होकर ह्यूम साहब ने गवर्मेंट को

इनकी बड़ी प्रशंसा लिखी जिससे गवर्मेंट ने इन्हें डिप्टी कलेक्टर बना दिया और बाँदे को बदली कर दी। यह सन् १८५६-५७ की बात है।

राजा साहब बाँदे से छुट्टी लेकर अपने घर आगरे को जा रहे थे कि उसी समय सिपाहियों का बलवा हो गया। जब आप इटावे के पास पहुँचे तब सुना कि यहाँ पर भी बड़ा उपद्रव मचा हुआ है। बस ये फौरन् ह्यूम साहब के पास पहुँचे और उनके कहने के अनुसार उन्होंने बहुत-से अँगरेज बालकों और मेमों को सकुशल आगरे के किले में पहुँचा दिया। घर पर पहुँच कर इन्होंने राजपूतों का एक झुंड बटोरा और उन्हें लेकर ये ह्यूम साहब की रक्षा को इटावे को जानेवाले थे कि तब तक वे स्वयं ही उनके घर पर आ गये। इन्होंने उनको अपनी ही रक्षा में रक्खा और जब दिल्ली को अधीन करके सरकारी फौज ने इटावे पर धावा किया तब इन्होंने स्वयं उस फोज का साथ दिया और वे लड़ाइयों में सम्मिलित रहे।

इस राजभक्ति के लिये इन्हें सरकार ने रुरका का इलाका माफी देना चाहा परंतु इन्होंने नम्रतापूर्वक यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि हमने जो कुछ किया जातीय धर्म के अनुसार किया। इसमें पुरस्कार की क्या आवश्यकता? तब इन्हें पहले दरजे की डिप्टी कलेक्टरी दी गई और ८००) मासिक वेतन पर बुलंदशहर को इनकी बदली हुई। यहाँ इन्होंने २० वर्ष काम किया और सन् १८८९ ई० में पेंशन लेकर फिर वे अपनी जन्मभूमि आगरे में रहने लगे। सन् १८७० ई० के प्रथम दिल्ली-दरबार में इन्हें गवर्मेंट ने राजा की पदवी प्रदान की थी।

यद्यपि डिप्टी कलेक्टरी के कामों से इन्हें अवकाश बहुत कम मिलता था तो भी हिंदी की ओर इनका ऐसा प्रेम था कि जो समय बचता

उसे ये उसी की सेवा में लगाते। इन्होंने गवर्मेंट की बहुतेरी पुस्तकों का अँगरेजी और फारसी से हिंदी में उल्था किया, जिनमें से एक ताजीरातहिंद का अनुवाद "दंड-संग्रह" है। इन्होंने बुलंदशहर का एक इतिहास भी लिखा था जो कि हिंदी, उर्दू, अँगरेजी तीनों भाषाओं में छपा है। हिंदी-जगत् में आपका नाम अमर करनेवाले शकुंतला, मेघदूत और रघुवंश इन तीनों पुस्तकों के भाषानुवाद हैं। इन पुस्तकों के अनुवाद में इन्होंने जो अपने पांडित्य का चमत्कार दिखलाया है वह किसी साहित्य-प्रेमी से छिपा नहीं है। भारतवर्ष तथा यूरोप के विद्वानों ने भी आपको हिंदी का अच्छा कवि माना है। इनकी लेखनी में यह विशेषता है कि इनके गद्य और पद्य दोनों में भी शुद्ध हिंदी-शब्दों का प्रयोग हुआ है। फिर भी एक-एक पद सरस, सुपाठ्य और सरलता से भरा हुआ है। इनका देहांत ६९ वर्ष की अवस्था में ता० १४ जुलाई सन् १८९६ ई० में हुआ।

यद्यपि ये राजा शिवप्रसाद से आयु में केवल तीन वर्ष छोटे थे, पर हिंदी-उर्दू के तत्कालीन झगड़े में दोनों का पक्ष एक दूसरे से भिन्न था। राजा शिवप्रसाद मिश्रित भाषा के पक्षपाती थे और राजा लक्ष्मणसिंह शुद्ध हिंदी के समर्थक थे। एक ने अपने सिद्धांत के समर्थन में कई ग्रंथ लिखे तथा लिखवाए और दूसरे ने यह बात दिखाने के लिये कि शुद्ध हिंदी में भी भाषा का सौष्ठव तथा भाव-द्योतन का सामर्थ्य है; शकुंतला नाटक, मेघदूत तथा रघुवंश का अनुवाद प्रकाशित किया। ये तीनों ग्रंथ हिंदी के गौरवस्वरूप हैं। इनकी भाषा अत्यंत सरल और पुष्ट है। साथ ही ब्रजभाषा का पुट मिल जाने से उसकी मनोहरता और भी बढ़ गई है। आधुनिक हिंदी-गद्य के विकास में राजा लक्ष्मणसिंह की कृतियाँ एक विशेष

परिवर्तन की सूचक हैं। इन्हीं की प्रणाली को ग्रहण कर भारतेंदु हरिश्चंद्र ने जो युग-परिवर्तक कार्य किया उसका सूत्रपात करने का श्रेय राजा लक्ष्मणसिंह को है। यद्यपि उनके समय में हिंदी-गद्य का रूप स्थिर नहीं हुआ था, पर राजा लक्ष्मणसिंह उस अंधकार-युग में एक देदीप्यमान नक्षत्र की भाँति पथ-प्रदर्शन का कार्य कर गए हैं। उनके शकुंतला नाटक का अनुवाद पहले गद्य में निकला था, पीछे से संस्कृत-श्लोकों का अनुवाद पद्य में दिया गया और उसका उल्था गद्य में पाद-टिप्पणी के रूप में छपा। यह व्यवस्था मेघदूत के अनुवाद में भी रही। रघुवंश का अनुवाद गद्य में है। शकुंतला का एक बढ़िया संस्करण मिस्टर फ्रेडरिक विनकाट के संपादकत्व में लंडन में भी टिप्पणियों के साथ छपा था।

(३) बाबू नवीनचंद्र राय

सन् ईसवी की उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में अँगरेज सरकार ने कुछ बंगाली बाबुओं को अपने काम से पंजाब को भेजा। उनमें से राढ़ीय श्रेणी के ब्राह्मण एक राममोहन राय थे जो बर्दवान जिले के रहनेवाले थे।

बाबू नवीनचंद्र राय उक्त राममोहन राय के पुत्र थे। इनका जन्म ता० २० फरवरी सन् १८३८ ई० को हुआ था। जब इनकी अवस्था केवल डेढ़ वर्ष की थी, इनके पिता का स्वर्गवास हो गया और इनके भरण-पोषण का भार केवल इनकी विधवा माता पर रहा। कुछ बड़े होने पर इन्होंने बँगला भाषा में रामायण पढ़ना सीख लिया। इनके घर के पास एक और बंगाली बाबू रहते थे। वे नित्य इनसे रामायण का पाठ सुनते और रोज कुछ पैसे

बाबू नवीनचंद्र राय।

इन्हें दे दिया करते थे, जिन्हें ये अपने विद्याध्ययन में खर्चते थे। खास मेरठ में कोई शिक्षा का उत्तम प्रबंध न था। जब इनकी अवस्था ९ वर्ष की हो गई तब मेरठ से तीन-चार कोस पर सर्धना के स्कूल में ये पढ़ने के लिये जाने लगे। इनका विद्याध्ययन की ओर असाधारण अनुराग इसी से प्रकट होता है कि उस किशोर अवस्था में ये नित्य तीन-चार कोस जाते और आते थे।

इनकी आर्थिक अवस्था बहुत ही शोचनीय थी, इसलिये इन्होंने १३ वर्ष की अवस्था में सर्धना में सोलह रुपया मासिक पर नौकरी कर ली, परंतु जब इन्होंने देखा कि यदि इंजीनियरिंग का अभ्यास कर लिया जाय तो कुछ अधिक वेतन मिल सकता है तो इन्होंने गणित का अभ्यास किया और थोड़े ही दिनों में परीक्षा पास करके वे पचास रुपया मासिक वेतन पाने लगे। इसी प्रकार इन्होंने अपने कठिन परिश्रम और अपनी कार्यनिपुणता से अपनी आय सोलह रुपया से लेकर सात सौ रुपया मासिक तक बढ़ाई। नवीनचंद्र राय ने केवल अपनी आर्थिक अवस्था ही नहीं सुधारी बरन इसी के साथ-साथ उन्होंने अपनी आध्यात्मिक उन्नति भी अच्छी की। विद्या से इन्हें विशेष प्रेम था। इन्होंने केवल अपने परिश्रम से अँगरेजी, हिंदी, उर्दू, फारसी और संस्कृत में असीम योग्यता प्राप्त कर ली और विविध भाषाओं में विविध विषयों के ग्रंथों को पढ़कर मनुष्य जीवन-संबंधी यावत् धार्मिक तत्त्वों का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। बाबू नवीनचंद्र राय, योगी, संन्यासी, फकीर, पंडित, मौलवी, पादरी आदि सब मतों के धार्मिक पुरुषों से मिलते और धर्म के तत्त्वों की जाँच किया करते थे। अंत में इन्होंने एक परब्रह्म परमात्मा को ही सबका नियंता मानकर उसी पर अपनी श्रद्धा और भक्ति स्थिर की।

बाबू नवीनचंद्र राय जैसे सब विषयों के प्रसिद्ध पंडित थे वैसे ही सदाचारी, जितेंद्रिय और दानशील भी थे। वे सदा दीन-दुखी लोगों की सहायता करने और शिक्षा का प्रचार करके देशहित करने में तत्पर रहते थे। पंजाब में स्त्री-शिक्षा का बीज बोनेवाले ये ही महाशय हैं। लाहौर में सबसे पुराना नार्मल फीमेल स्कूल इन्हीं का स्थापित किया हुआ है। इन्होंने लाहौर में सद्विषयों पर वार्तालाप करने के उद्देश्य से एक सत्सभा खोली थी। पंजाब-विश्वविद्यालय और ओरिएंटल कालेज के आप प्रधान व्यवस्थापक थे। पंजाब-युनिवर्सिटी के फेलो भी थे और कई वर्ष तक इन्होंने आफिशियेटिंग रजिस्ट्रार तथा प्रिंसिपल का काम भी किया था।

शिक्षा-विभाग से घनिष्ठ संबंध होने पर इन्होंने संस्कृत और हिंदी-भाषा में अच्छी अच्छी पुस्तकों की रचना की जिनमें से बहुतेरी पुस्तकें बहुत दिनों तक पंजाब-युनिवर्सिटी में पढ़ाई जाती थीं और कुछ का अब तक उपयोग होता है।

इन्होंने हिंदी में ज्ञान-प्रदायिनी पत्रिका निकाली थी और सोशल-रिफार्म-संबंधी कई पत्र निकाले और विधवा-विवाह पर एक पुस्तक रची थी। ये अपने अनुष्ठान के बड़े दृढ़ और पूरे परोपकारी पुरुष थे। इन्होंने गरीबों को ओषधि देने के लिए निज के कई दवाख़ाने खोले थे, तथा ये जनसमुदाय के उपकार के अनेक कामों में सदा दत्तचित्त रहते थे। परिश्रमी तो इतने थे कि वृद्धावस्था में भी नवीन विषयों को सीखते समय पाठशाला में पढ़नेवाले बच्चों का-सा परिश्रम करते थे। इनका सिद्धांत यह था कि ज्ञान और विद्या के समुद्र का पारावार नहीं है इसलिये मनुष्य को यावज्जीवन विद्योपार्जन में परिश्रम करना चाहिए।

पंडित बालकृष्ण भट्ट।

सन् १८८० ई० में इन्होंने सरकार से पेंशन ले ली और रतलाम रियासत के दीवान हुए, पर वहाँ से शीघ्र लौट आए और खंडवे के पास एक गाँव बसाकर उसी में रहने लगे। इस गाँव का नाम इन्होंने ब्रह्मगाँव रक्खा था क्योंकि इसमें अधिकतर ब्राह्मण ही बसाए गए थे। सन् १८९० ई० में इनका परलोकवास हुआ।

पंजाब में बालिका शिक्षा के साथ हिंदी के प्रचार का श्रेय राय महाशय को प्राप्त है। जिस प्रकार पश्चिमोत्तर प्रदेश के शिक्षा-प्रसार में राजा शिवप्रसाद का हाथ रहा उसी प्रकार पंजाब में राय महाशय का था। वे शुद्ध हिंदी के समर्थक थ। इनके बनाए हिंदी-ग्रंथों में ये उल्लेखनीय हैं—नवीनचंद्रोदय, सरल व्याकरण, निर्माणविद्या भाग १, २, ३, जलगति जलस्थिति, वायुकतत्त्व, स्थितितत्त्व, गतितत्त्व, सद्धर्मसूत्र, शब्दोच्चारण, लक्ष्मी-सरस्वती-संवाद, उपनिषत्सार, तत्त्वबोध, लघुव्याकरण।

(४) पंडित बालकृष्ण भट्ट

पंडित बालकृष्ण भट्ट के पूर्वपुरुष मालवा देश के निवासी थे। परंतु वे किसी कारण-विशेष से कालपी के पास बेतवा नदी के किनारे जटकरी गाँव में आ बसे। पंडित जी के प्रपितामह श्याम जी एक चतुर और विद्वान् पुरुष थे। वे राजा साहब कुलपहाड़ के यहाँ एक उच्च पद पर नौकर हो गए। उनके दो स्त्रियाँ थीं जिनसे पाँच पुत्र उत्पन्न हुए। वे अपने सबसे छोटे पुत्र विहारीलाल पर अधिक स्नेह रखते थे, इसलिये अंत समय अपनी सब संपत्ति का अधिकार उन्हीं को दे गए। पंडित विहारीलाल जटकरी से आकर प्रयाग में रहने लगे। इनके जानकीप्रसाद और वेणीप्रसाद दो पुत्र हुए। पंडित बाल-

कृष्ण जी वेणीप्रसाद जी के पुत्र थे। वे स्वयं पढ़े-लिखे तो बहुत न थे पर इस ओर उनके चित्त की प्रवृत्ति और रुचि विशेष थी।

पंडित बालकृष्ण भट्ट का जन्म संवत् १९०१ में हुआ था। इनकी माता बड़ी विदुषी थीं इसलिये इन्हें जन्म से ही विद्याध्ययन का व्यसन लग गया। कुछ बड़े होने पर इनके पिता और चाचा आदि ने चाहा कि यह बालक दुकानदारी के काम में दत्तचित्त होकर व्यापार-कुशल हो। परंतु ये उस ओर ध्यान नहीं देते थे और पढ़ने-लिखने में लगे रहते थे। ऊपर से माता का यही अनुशासन था कि बेटा तुम खूब पढ़ो। तदनुसार ये पंद्रह-सोलह वर्ष की अवस्था तक संस्कृत पढ़ते रहे।

सन् ५७ के गदर के पश्चात् देश में अँगरेजी राज्य का दबदबा होने से अँगरेजी भाषा का मान बढ़ने लगा। इनकी चतुरा और दूरदर्शिनी माता ने भी इन्हें अँगरेजी पढ़ने की प्रेरणा की। माता की आज्ञा मानकर ये एक मिशन-स्कूल में भर्ती हो गए। वहाँ इन्होंने एंट्रेंस तक शिक्षा पाई और बाइबिल की परीक्षा में कई बार इनाम भी पाया। पर इससे यह न समझना चाहिए कि इनकी धार्मिक श्रद्धा में भी कुछ बट्टा लगा। ये अपने हिंदू-धर्म पर हृदय से दृढ़ थे और इसी कारण उस स्कूल के पादरी हेड मास्टर से वादविवाद हो जाने पर इन्होंने स्कूल छोड़ दिया।

मिशन स्कूल छोड़कर ये पुनः संस्कृत का अध्ययन करने लगे। व्याकरण और साहित्य का खूब मनन किया। इसी बीच में ये जमुना मिशन स्कूल में अध्यापक हो गये परंतु अपने धर्म के अटल पक्ष-पाती होने के कारण इन्हें यह अध्यापकत्व भी छोड़ना पड़ा।

स्वतंत्रता की धुन सवार होने के कारण ये बहुत दिनों तक बेकार बैठे रहे, परंतु इसी बीच में जब इनका विवाह हो गया तब कमाने की चिंता हुई और कोई अच्छा व्यापार करने की इच्छा से ये कलकत्ता चले गए, परंतु शीघ्र ही लौट आए। कलकत्ते से आकर ये पहले की तरह हाथ पर हाथ रखकर बैठे न रहे बरन अपने अमूल्य समय को संस्कृत-साहित्य के अध्ययन और हिंदी-साहित्य की सेवा में बिताने लगे। उस समय के समस्त साप्ताहिक और मासिक हिंदी-पत्रों में लेख लिख-लिखकर ये भेजने लगे।

इसी समय प्रयाग के कई शिक्षित युवकों ने सन् १८७७ ई० में हिंदी-प्रवर्द्धिनी नाम की एक सभा स्थापित की और निश्चय किया कि प्रति सभासद से पाँच-पाँच रुपया चंदा इकट्ठा करके एक मासिक पत्र प्रकाशित किया जाय, तदनुसार "हिंदी-प्रदीप" का जन्म हुआ और भट्ट जी उसके संपादक हुए। जब "हिंदी-प्रदीप" का प्रकाश हुआ उन्हीं दिनों में सरकार ने प्रेसएक्ट पास किया जिससे भयभीत होकर "हिंदी-प्रदीप" के अन्य हितैषियों ने तो उससे नाता तक तोड़ दिया परंतु इन्होंने उसे हवा भी न लगने दी और ३२ वर्ष तक उसका संपादन करते रहे। मातृ-भाषा की ओर अविचल भक्ति के कारण ये उसे चलाते रहे।

बाबू हरिश्चंद्र कहा करते थे कि हमारे बाद दूसरा नंबर भट्ट जी का है सो ठीक ही था। इनके लिखे हुए कलिराज की सभा, रेल का विकट खेल, बालविवाह नाटक, सौ अजान एक सुजान, नूतन ब्रह्मचारी, जैसा काम वैसा परिणाम, आचारविडंबना, भाग्य की परख, षड्-दर्शनसंग्रह का भाषानुवाद, गीता और सप्तशती की समालोचना आदि लेख देखने ही योग्य हैं। हिंदी-प्रदीप तो आपके फुटकर लेखों

का भांडार है। इनके अतिरिक्त पद्मावती, शर्मिष्ठा और चंद्रसेन नाटक भी आपके लिखे हैं।

पंडित बालकृष्ण जी हिंदी के एक सच्चे हितेच्छु और अच्छे लेखक थे। आप स्वभाव के सादे सत्यप्रिय सज्जन थे। बड़े हँसमुख भी थे। आप सनातन-धर्म के अनुयायी थे, पर अंधपरंपरा के पक्षपाती नहीं थे। आपने कई वर्षों तक प्रयाग की कायस्थ-पाठशाला में संस्कृत के अध्यापक का काम किया था। कायस्थ-पाठशाला से संबंध छूटने के कुछ काल अनंतर हिंदी-प्रदीप भी बंद हो गया। कुछ समय तक आप काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के "हिंदी-शब्दसागर" नाम के कोष के संपादन कार्य में योग देते रहे। पर वार्धक्य अधिक बढ़ जाने के कारण तथा अस्वस्थता से उन्हें यह काम छोड़ना पड़ा। आपका देहान्त श्रावणकृष्णा १३ संवत् १९७१ को प्रयाग में हुआ।

भट्ट जी हिंदी के इने-गिने निबंध-लेखकों में हैं। उनकी शैली में व्यंग्य और वक्रता की मात्रा अधिक रहती थी। उनका स्वभाव कुछ चिड़चिड़ा था। उसी का प्रतिबिंब उनके लेखों में मिलता है। मुहावरों का प्रयोग भी वे प्रायः करते थे। अँगरेज़ी, फारसी के शब्दों का भी प्रयोग वे बीच-बीच में निस्संकोच भाव से करते थे। यद्यपि उनकी भाषा पुष्ट थी, पर कहीं-कहीं पूर्वीपन देख पड़ता है। उनके वाक्य कुछ बड़े होते थे, पर लेख प्रायः दो-तीन पृष्ठों से अधिक नहीं होते थे। ऐसा जान पड़ता है कि उनके मन में कोई भाव उदय हुआ और उस आवेश में आकर जितना बन पड़ा अपने संचित ज्ञानभांडार के आधार पर लिख डाला। इसमें संदेह नहीं कि वे हरिश्चंद्र-काल के उज्ज्वल निबंध-लेखकों में थे। उन्होंने बहुत कुछ हानि उठाकर भी हिंदी की सतत सेवा की है।

बाबू तोताराम ।

(५) बाबू तोताराम

बाबू तोताराम जी कायस्थ थे । इनका जन्म श्रावणशुक्ला १० संवत् १९०४ को हुआ था। इनके पिता लाला ज्ञानचंद, सासनी स्टेशन के पास नगलासिंह में रहते थे; पर फिर ये गौहाना में जा बसे और यहीं पर एक मदरसा स्थापित किया।

यद्यपि अलीगढ़ के जिले में उर्दू और फारसी का अधिक प्रचार होने के कारण बाबू तोताराम के घर के सब लोग उर्दू-फारसी में ही प्रवीण थे परंतु इनकी घर की भाषा हिंदी थी और घर की स्त्रियों तक को हिंदी में रामायण पढ़ने का अभ्यास था । इसी से इन्हें आरभ में हिंदी की शिक्षा दी गई। इन्होंने अध्ययन में ऐसी तीव्रता दिखलाई कि साल भर में ही साधारण गणित और लिखने-पढ़ने योग्य हिंदी सीख ली। तब इनके पिता ने इन्हें सासनी के सरकारी स्कूल में बिठाया। वहाँ की पढ़ाई भी इन्होंने लगे हाथों समाप्त की और अँगरेज़ी भाषा की शिक्षा पाने के लिए अलीगढ़ के उस स्कूल में जा भरती हुए जो पीछे से अलीगढ़ कालेज के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि इनके प्रारंभिक विद्या-गुरु पंडित क्षेम जी बड़े शांतिशील सज्जन और धर्म में श्रद्धावान् साधु पुरुष थे। बड़े होने पर बाबू तोताराम जी भी वैसे ही हुए। घर से बाहर एक आलीशान शहर में स्वतंत्र रहते हुए भी इनके आठों पहर विद्या-ध्ययन में व्यतीत होते थे। सन् १८६३ में न्होंने एंट्रेंस पास कर लिया और आगे पढ़ने के लिये आगरे के सेंट जांस कालेज में भरती हुए। यहाँ आप जिस समय बी० ए० क्लास में पढ़ रहे थे उसी समय

इनके पिता का देहांत हो गया। साथ ही आँखों में भी कुछ रोग हो गया जिससे इन्हें डाक्टर के कहने से पढ़ना छोड़ देना पड़ा।

पढ़ना छोड़ देने के थोड़े ही दिन पीछे आप फतहगढ़ स्कूल के हेडमास्टर नियत हुए और फिर आपकी बनारस को बदली हो गई। यहाँ इनका हिंदी-प्रेम और भी बढ़ गया। इन्होंने यहाँ "केटो-कृतांत" नामक पुस्तक हिंदी में लिखी। फिर बँगला, गुजराती, महाराष्ट्री आदि भाषाओं का अध्ययन किया और कानून पास करके नौकरी से इस्तीफा दे दिया।

इस प्रकार सेवा-वृत्ति से स्वतंत्र होकर इन्होंने सन् १८७७ ई० में अलीगढ़ में अपना छापाखाना खोला और वहीं से भारत-बंधु नामक हिंदी का साप्ताहिक पत्र निकाला। इसके दूसरे वर्ष इन्होंने संयुक्त-प्रांत के छोटे लाट की सहायता से लायल-लाइब्रेरी नामक पुस्तकालय स्थापित किया।

बाबू तोताराम जी हिंदी-भाषा के अनन्य शुभचिंतक थे, इस विषय में इन्होंने यथासाध्य परिश्रम किया। इन्होंने एक भाषा-संवर्द्धिनी सभा स्थापित की थी जिसका यह उद्देश्य था कि हिंदी-भाषा की अच्छी-अच्छी पुस्तकें छपाकर सस्ते मूल्य पर बेची जायँ। इन्होंने स्वयं कई पुस्तकें लिखकर सभा के समर्पण की थीं जिनमें से एक स्त्री-सुबोधिनी है। आप अलीगढ़ की प्रदर्शिनी में लिपि-विभाग के मंत्री थे। अस्तु, आपने हिंदी-लिपिवालों को अच्छे-अच्छे इनाम दिलाकर उनका उत्साह दुगुना किया और इसी तरह जब हिंदी-भाषा की ओर से सर एंटनी मेक्डानल के यहाँ डेपुटेशन जानेवाला था तो आपने कायस्थ-कानफरेंस के सभापतित्व में ६,००० कायस्थों को हिंदी के पक्ष में सम्मति देने पर उद्यत किया था।

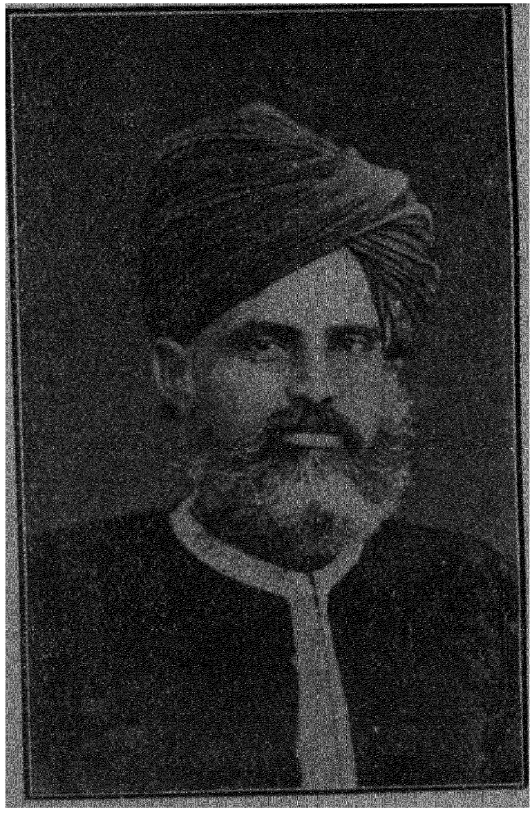

मुंशी देवीप्रसाद ।

इन्होंने 'राम-रामायण' नाम से वाल्मीकीय रामायण का भाषा-पद्यानुवाद करना आरंभ किया था, परंतु खेद है कि इनका यह कार्य पूरा न हो सका। इन्होंने संस्कृत की अनेक पुस्तकों का अनुवाद करके या करा के नवलकिशोर और व्यंकटेश्वर आदि प्रेसों में छपवाया था।

बाबू तोताराम जी जैसे मातृभाषा क प्रेमी और धार्मिक पुरुष थे वैसे ही सच्चे देश-हितैषी और समाज-प्रिय भी थे। इन्होंने समय समय पर अकाल-पीड़ित प्रजा की सहायता की। जिस समय आगरा कालेज टूटकर अलीगढ़ कालेज में मिलाया जानेवाला था उस समय इन्होंने उसे बचा लिया। इसी प्रकार आपने देश-हितकर अनेक काम किए।

आप वैष्णव-धर्म्मावलंबी थे, परंतु स्वामी दयानंद जी के भी बड़ भक्त थे। आप बड़े सदाचारी और सुशीलता के तो आदर्श थे। आपका देहांत ता० ७ दिसंबर सन् १९०२ को हुआ।

आपकी भाषा में कोई विशेषता नहीं है। वह सीधी-सादी है, पर साथ ही पुष्ट तथा शुद्ध है। आपने हिंदी में ग्रंथ-रचना करने का उतना उद्योग नहीं किया जितना उसके प्रचार और विस्तार का।

(६) मुंशी देवीप्रसाद

मुंशी देवीप्रसाद जी का जन्म माघशुक्ला १४ शुक्रवार संवत् १९०४ को हुआ था। आपके पिता का नाम मुंशी नत्थनलाल और दादा का नाम मुंशी कृष्णचंद था। आप कायस्थ-कुल में उत्पन्न हुए थे। यद्यपि अधिकांश कायस्थ हिंदी के विरोधी और उर्दू-फारसी के पक्षपाती

लिये नियुक्त किए गए। मुंशी हरदयालसिंह जी ने राज्य में बहुत-से सुधार किए थे, नये नियमादि बनाए थे, मनुष्य-गणना की थी तथा अन्य उपयोगी कार्य बहुत योग्यता से किए थे। उन सबमें मुंशी देवीप्रसाद जी ने बहुत अधिक सहायता दी थी, जिसके लिये वहाँ के उच्च अधिकारियों ने आपकी बहुत अधिक प्रशंसा की थी। मनुष्य-गणना का काम योग्यतापूर्वक करने के कारण आपको ५००) पारितोषिक और एक प्रशंसापत्र भी मिला था। उसी समय १००) मासिक पर आप मुंसिफ बना दिए गए और आपको ५००) तक के दीवानी मुकद्दमों के सुनने का अधिकार दिया गया। इस काम को भी आपने बहुत योग्यतापूर्वक संपादन करके उच्च अधिकारियों को बहुत प्रसन्न किया। अंत में आप महकमें तवारीख के मेंबर हुए और आर्केयालोजिकल विभाग का कुछ काम करते थे।

मुंशी देवीप्रसाद प्राचीन इतिहास के बहुत अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने इस विषय पर हिंदी और उर्दू में प्रायः ५०—६० ग्रंथ लिखे हैं। जो ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्व के समझे जाते हैं। आपकी लिखी हिंदी-पुस्तकों में मुसलमान बादशाहों तथा राजपूताने के बहुत-से वीर महाराजाओं के जीवनचरित बहुत प्रसिद्ध हैं। पहले पहल सन् १८७५ में आपने मारवाड़ का जो इतिहास लिखा था उसके लिये पश्चिमोत्तर प्रदेश (वर्तमान संयुक्त-प्रांत) की सरकार ने आपको ३००) पारितोषिक दिया था। इसके अतिरिक्त नीति और स्त्री-शिक्षा-संबंधी कई पुस्तकों के लिये आपको और भी कई पुरस्कार तथा प्रशंसापत्र आदि मिले थे।

इनके लिखे ऐतिहासिक जीवनचरित ये हैं:—अकबर, शाहजहाँ, हुमायूँ, तुहमास्प (ईरान का शाह), बाबर, शेरशाह, राणा सांगा,

रतनसिंह, विक्रमादित्य (चित्तौर), बनवीर, उदयसिंह, प्रतापसिंह, पृथ्वीराज (जयपुर), पूरणमल, आसकरण, राजसिंह (जयपुर), भागमल, भगवानदास, मानसिंह, बीका जी, नराजी, लूणकरण, जैतसी, कल्याणमल, मालदेव, वीरबल (दो भाग), मीराबाई, जसवंतसिंह (मारवाड़), खानखाना, औरंगजेब।

इन ३० जीवनियों के अतिरिक्त मुंशी जी ने ये ग्रंथ और लिखे या संपादित किए हैं:—

जसवंतस्वर्गवास, सरदारसुखसमाचार, विद्यार्थी-विनोद, स्वप्न-राजस्थान, मारवाड़ का भूगोल तथा नकशा, प्राचीन कवि, बीकानेर-राजपुस्तकालय, इंसाफसंग्रह, नारीनवरत्न, महिलामृदुवाणी, मारवाड़ के प्राचीन शिलालेखों का संग्रह, सिंध का प्राचीन इतिहास, यवनराजवंशावली, मुगलवंशावली, युक्तीयोगयता, कविरत्नमाला, अरबी भाषा में संस्कृतग्रंथ, रूठी रानी, परिहारवंशप्रकाश, परिहारों का इतिहास।

मुंशी जी की भाषा सीधी-सादी व्यवस्थित होती थी। सत्य घटनाओं की खोज कर उन्हें लिपिबद्ध करना ही उनका उद्देश्य रहा। मुंशी जी के पास अनेक ऐतिहासिक वस्तुओं का संग्रह था, जिसे मारवाड़-दरबार ने उनकी मृत्यु के अनंतर अपनी संरक्षणता में ले लिया।

उन्होंने हिंदी में ऐतिहासिक पुस्तकें प्रकाशित करने के लिये काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा को इंपीरियल बैंक के ७ हिस्सों का दान दिया है। इससे प्रतिवर्ष लगभग ५००) की आय होती है। इस धन से देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तक-माला निकलती है जिसमें अब तक कई अच्छे-अच्छे ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं।

मुंशी जी का देहावसान १५ जुलाई, सन् १९२३ (सं० १९८०) जोधपुर में हुआ।

(७) राजा रामपालसिंह

जा साहब का जन्म एक प्रसिद्ध और प्रतापी राजकुल में हुआ । आप अवध प्रांत के अंतर्गत प्रतापगढ़ के तअल्लुकेदार मृत राजा नुमंतसिंह जी के ज्येष्ठ पुत्र श्री लालप्रतापसिंह जी के इकलौते पुत्र । आपका जन्म संवत् १९०५ की भादों सुदी ४ को हुआ।

राजा साहब बाल्यावस्था ही से अत्यंत तीव्रबुद्धि और चंचल-स्वभाव थे; पर साथ ही विद्याध्ययन में अनुराग भी स्वाभाविक था। ापने सात वर्ष की अवस्था में हिंदी में पूर्णरूप से योग्यता प्राप्त कर ी थी। नागरी पढ़ लेने पर आपने फारसी का अध्ययन आरंभ किया ौर पाँच वर्ष में फारसी में पूर्ण योग्यता प्राप्त करके अँगरेजी और ंस्कृत का अध्ययन आरंभ किया।

इसमें भी राजा साहब ने अभ्यास और बुद्धिबल से पाँच-छः वर्ष में ऐसी योग्यता प्राप्त कर ली कि आप संस्कृत के क्लिष्ट और गूढ़ छंदों का मर्म समझने और अँगरेजी में वार्तालाप करने लगे थे।

भिन्न-भिन्न भाषाओं के और भिन्न-भिन्न मतमतांतरों से संबंध रखनेवाले ग्रंथों को पढ़कर राजा साहब के हृदय में नवीन सभ्यता ने स्थान प्राप्त कर लिया। इसलिये वे एकमात्र परमात्मा को अपना आराध्य देव मानकर पुरानी लकीर के फकीर रहने के विरुद्ध हो गए। इससे इनके सब संबंधी और इनके पितामह राजा हनुमंतसिंह जी स्वयं इनसे अप्रसन्न हो गए। परंतु इन्होंने किसी की ओर ध्यान न

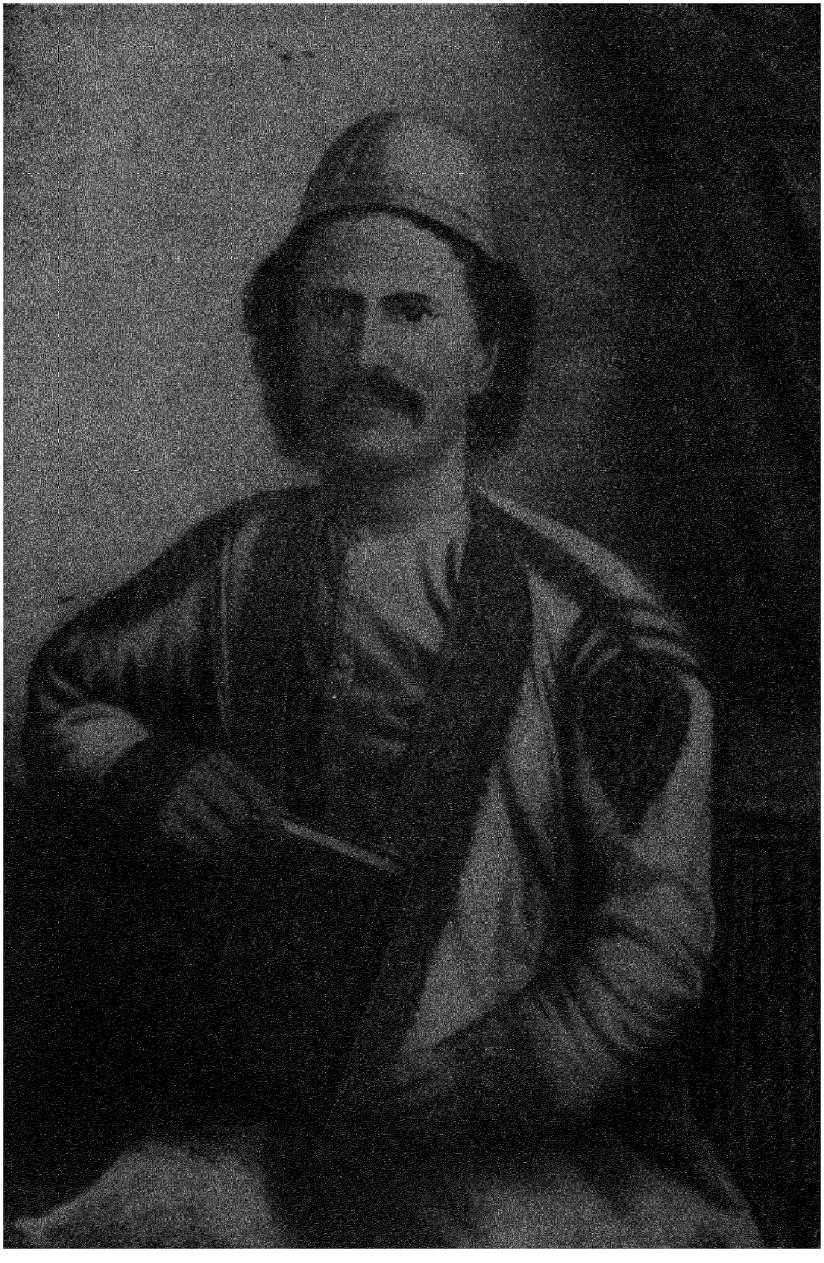

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ।

दिया और अपने सिद्धांत पर दृढ़ रहे। १८ वर्ष की अवस्था में इन्होंने आनरेरी मजिस्ट्रेटी स्वीकार की और इसके अनंतर मध्यम और उच्च श्रेणी की परीक्षाओं को पास किया। राजा साहब एक न्यायशील और देशहितैषी पुरुष थे। इसलिये अदूरदर्शी लोगों की दृष्टि में कुछ खटकने लगे।

अस्तु, राजा साहब ने इँगलैंड जाने की इच्छा प्रकट की, स पर भी पुराने विचार के लोगों ने असम्मति प्रकट की परंतु आपको तो उस उन्नतिशाली देश की सामाजिक, राजनीतिक और व्यापारिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त करने की धुन सवार थी। इसलिये आपने इँगलैंड की यात्रा की। आपकी पतिव्रता धर्मपत्नी भी आपके साथ गई। परंतु दो वर्ष इँगलैंड में रहने पर आपकी धर्मपत्नी का शरीरपात हो गया। तब आपने एक अँगरेजी रमणी से विवाह किया और घर को लौट आए। परंतु थोड़े ही दिन कालाकाँकर में रहकर आप पुनः इँगलैंड को चले गए और वहाँ जर्मन, फ्रेंच, लेटिन आदि भाषाओं और गणित का अभ्यास करने लगे। आपने अपने देश की सेवा करने की च्छा से सन् १८८३ में वहाँ अँगरेजी-हिंदी में "हिंदोस्थान" नाम का पत्र निकाला और उसके द्वारा इँगलैंडवासी लोगों को इस देश की दशा का वास्तविक परिचय देने लगे। इसके अतिरिक्त आप वहाँ की प्रत्येक सभा-सोसायटी में जाते और मनोहर व्याख्यान-द्वारा इस देश-वासियों के दुखः-सुख की कथा सुनाते थे।

उस समय इस देश के जो विद्यार्थी इँगलैंड में विद्याध्ययन करने जाते थे राजा साहब उन सबका बड़ा सत्कार करते थे। उन्हें अपने यहाँ बुलाते, समय समय पर भोज देते और उनके पठन-पाठन में यथासाध्य आर्थिक सहायता भी करते थे। सन् १८८५ ई० में आपने

इँगलैंड से आकर कालाकाँकर से हिंदी में "हिंदोस्थान" नाम का दैनिक पत्र निकालना आरंभ किया, जो उनके जीवन में बराबर चलता रहा। आपने अँगरेजी में भी "इंडियन यूनियन" नाम का एक पत्र निकालना आरंभ किया था परंतु कुछ दिनों के अनंतर वह बंद हो गया। तब से "हिंदोस्थान" की एक दूसरी प्रति अँगरेजी में प्रकाशित होती रही। आधुनिक काल में "हिंदोस्थान" हिंदी का पहला दैनिक पत्र था और इसके संपादकों में पंडित मदनमोहन मालवीय, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, बाबू बालमुकुंद गुप्त आदि हिंदी के स्वनामधन्य हितैषी और लेखक थे।

आपने केवल हिंदी जाननेवालों को सहज में अँगरेजी सीख लेने क लिये "दी सेल्फ टीचिंग बुक्" नाम की एक बड़ी अच्छी पुस्तक लिखी है और "रिसेंट ट्रिप टू यूरप" नाम की अँगरेजी भाषा की पुस्तक में आपने अपनी इँगलैंड-यात्रा का वर्णन लिखा है। आप जिस तरह अपने देश की कला-कौशल और व्यापार की उन्नति चाहते थे वैसे ही मातृभाषा हिंदी के भी परम शुभचिंतक थे। आपके राजनीतिक और सामाजिक सिद्धांत सराहनीय हैं। आप अवध के तअल्लुकेदारों में एक माननीय रईस थे। आप कई बार संयुक्त-प्रदेश की कौंसिल में प्रजा के प्रतिनिधि हुए थे। सन् १९०९ ई० में २८ फरवरी को आपका शरीरांत हुआ।

(८) बाबू गदाधरसिंह

बाबू गदाधरसिंह के पूर्वज काशी के रहनेवाले थे। इनके पितामह खोजूसिंह पुलिस में एक साधारण सिपाही थे। इनके दो पुत्र हुए, रामसहायसिंह और गनेसूसिंह। रामसहायसिंह ने फारसी में अच्छी

बाबू गदाधर सिंह।

योग्यता प्राप्त कर ली थी इसलिये वे थानेदार के पद पर पहुँच गए और कुछ दिनों के अनंतर कमिश्नर के दूसरे मुंशी नियत हुए। इस समय राजा शिवप्रसाद मीरमुंशी थे और बाबू रामसहायसिंह और राजा साहब से खूब पटती थी। हमारे चरित-नायक बाबू गदाधरसिंह इन्हीं बाबू रामसहायसिंह के पुत्र थे। बाबू गदाधरसिंह का जन्म सन् १८४८ ई० में हुआ था। जब इनकी अवस्था केवल पाँच वर्ष की थी तब उनके पिता बाबू रामसहायसिंह का देहांत हो गया जिससे इनके संबंधियों ने इनके घर की सब धन-सम्पत्ति नष्ट कर डाली, परंतु इनके पिता के मित्रों ने इनकी यथासाध्य सहायता की और सन् १८५७ ई० में पढ़ने का लग्गा लगा दिया। दैवात् सन् १८६० में इनकी माता का भी परलोकवास हो गया और ये निपट अनाथ हो गए। पर इन्होंने हिम्मत न हारी और स्वयं सांसारिक व्यवहारों का अनुभव करते हुए सन् १८६८ में एंट्रेंस पास कर लिया।

एंट्रेंस पास कर लेने पर राजा शिवप्रसाद इन्हें १००) मासिक वेतन की सरकारी नौकरी दिलाते थे पर इन्होंने उसे अस्वीकार कर दिया और स्वतंत्र जीवन बिताने की इच्छा से कोई व्यापार करने के लिये बाबू हरिश्चंद्र जी की सहायता चाही। बाबू साहब ने इन्हें तुरंत १,०००) दिए और ये दो-एक मित्रों के साथ कलकत्ते को चले गए। वहाँ से कुछ किराना आदि खरीद कर लाए, पर इनका व्यापार चला नहीं। इसलिये इन्हें विवश होकर १६) मासिक पर हरिश्चंद्र स्कूल में नौकरी स्वीकार करनी पड़ी।

सन् १८७१ में राजा शिवप्रसाद की सहायता से बाबू गदाधरसिंह बंदोबस्त-विभाग में नौकर होकर कानपुर चले गए। वहाँ रहकर इन्होंने पहले-पहल हिंदी में कादंबरी उपन्यास लिखा जिसका कुछ भाग

हरिश्चंद्र चंद्रिका में प्रकाशित हुआ और फिर सन् १८७८ में वह पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। सन् १८७४ में बंदोबस्त का काम समाप्त हो जाने पर ये आजमगढ़ में कानूनगो नियत हुए। कुछ दिनों के अनंतर कोर्ट आफ वार्ड्स में नियत होकर ये जौनपुर के राजा के यहाँ आए, पर थोड़े ही दिनों में फिर अपने पद पर आजमगढ़ को लौट गए। वहाँ इन्होंने सन् १८८३ तक काम किया और इसी बीच में दुर्गेशनंदिनी का भाषानुवाद किया।

सन् १८८३ ई० में पेशकार के पद पर नियत होकर इनकी आजमगढ़ से मिर्जापुर को बदली हो गई। यहाँ इन्होंने सन् १८९३ तक बड़ी योग्यता से काम किया। मिर्जापुर में ही इन्होंने वंगविजेता का भाषानुवाद करके उसे छपवाया और स्त्री का परलोकवास हो जाने पर सन् १८८४ ई० में अपने उत्तराधिकारीस्वरूप अपने आर्यभाषापुस्तकालय को स्थापित किया।

सन् १८९० तक यह पुस्तकालय मिर्जापुर में रहा परंतु इस सन् के अंत में इन्होंने बनारस आकर इसे हनुमान सेमिनरी स्कूल के प्रबंध में छोड़ दिया। इसी बीच में इनकी इटावे को बदली हो गई और यहाँ न रहने के कारण इनके प्यारे पुस्तकालय की उन्नति के बदले अवनति होने लगी। इन्होंने इटावे में छः वर्ष काम किया और उथेलो, रोमन-उर्दू की पहली किताब और भगवद्गीता ये तीन ग्रंथ लिखे।

निरंतर बहुत दिनों तक कार्य करने से व्यथित होकर तथा अपने पुस्तकालय की स्थिति सुधारने की इच्छा से इन्होंने दो वर्ष की छुट्टी ली और सन् १८९६ ई० के जुलाई मास में ये बनारस चले आए। यहाँ सन् १८९३ ई० में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा स्थापित हो चुकी थी और सन् १८९४ ई० से आप उसके एक सभ्य भी थे। अस्तु जब इन्होंने

है परंतु आपकी गणित पर ही विशेष रुचि रहती थी। इसी से सन् १८७० ई० में आपने गणित में ही 'आनर्स' के साथ एम० ए० पास किया।

पंडित लक्ष्मीशंकर जैसे तीव्रबुद्धि थे वैसे ही सुयोग्य भी थे। उस समय बनारस-कालेज के प्रधान अध्यापक ग्रिफिथ साहब इनकी योग्यता पर मुग्ध थे। उन्होंने इन्हें बनारस-कालेज में गणित का अध्यापक नियत किया। इनकी पढ़ाने की शैली भी ऐसी अच्छी थी कि गणित ऐसे कठिन विषय को सहज में समझा देते थे।

उस समय बनारस में "बनारस इंस्टीट्यूट" नाम की एक सभा थी। डाक्टर थीबो, सर सैयद अहमदखाँ और राजा शिवप्रसाद आदि बड़े बड़े योग्य पुरुष उसके सभासद् थे। पंडित लक्ष्मीशंकर भी उसमें सम्मिलित थे। ये उस सभा में बड़े गूढ़ विषयों पर ऐसे अच्छे व्याख्यान देते थे कि जिनकी बड़े बड़े विद्वान् प्रशंसा करते थे।

पंडित लक्ष्मीशंकर समय का बड़ा आदर करते थे। वे अपना किंचित्-मात्र भी समय व्यर्थ न जाने देते थे। नित्य के आवश्यक कामों से जो समय बचता उसमें आप उत्तमोत्तम पुस्तकें लिखा करते थे। पहले-पहल इन्होंने त्रिकोणमिति (Trigonometry) नामक एक ग्रंथ लिखा जिसके लिये इस प्रांत की गवर्मेंट ने इन्हें एक हजार रुपया इनाम दिया। इसके पीछे हिंदी में गणितकौमुदी की रचना की।

सात वर्ष तक पंडित जी गणित के अध्यापक रहे। इसके पीछे सन् १८७७ ई० में आप विज्ञानशास्त्र के अध्यापक हुए। इस समय इन्होंने विज्ञान पर पुस्तकें लिखना आरंभ किया और पदार्थविज्ञानविटप, प्राकृतिक भूगोलचंद्रिका, वायुचक्रविज्ञान, स्थिति-विद्या, गति-विद्या आदि नाम की परम उपयोगी पुस्तकें लिखकर हिंदी के भांडार में विज्ञान-शास्त्र का बीज बो दिया।

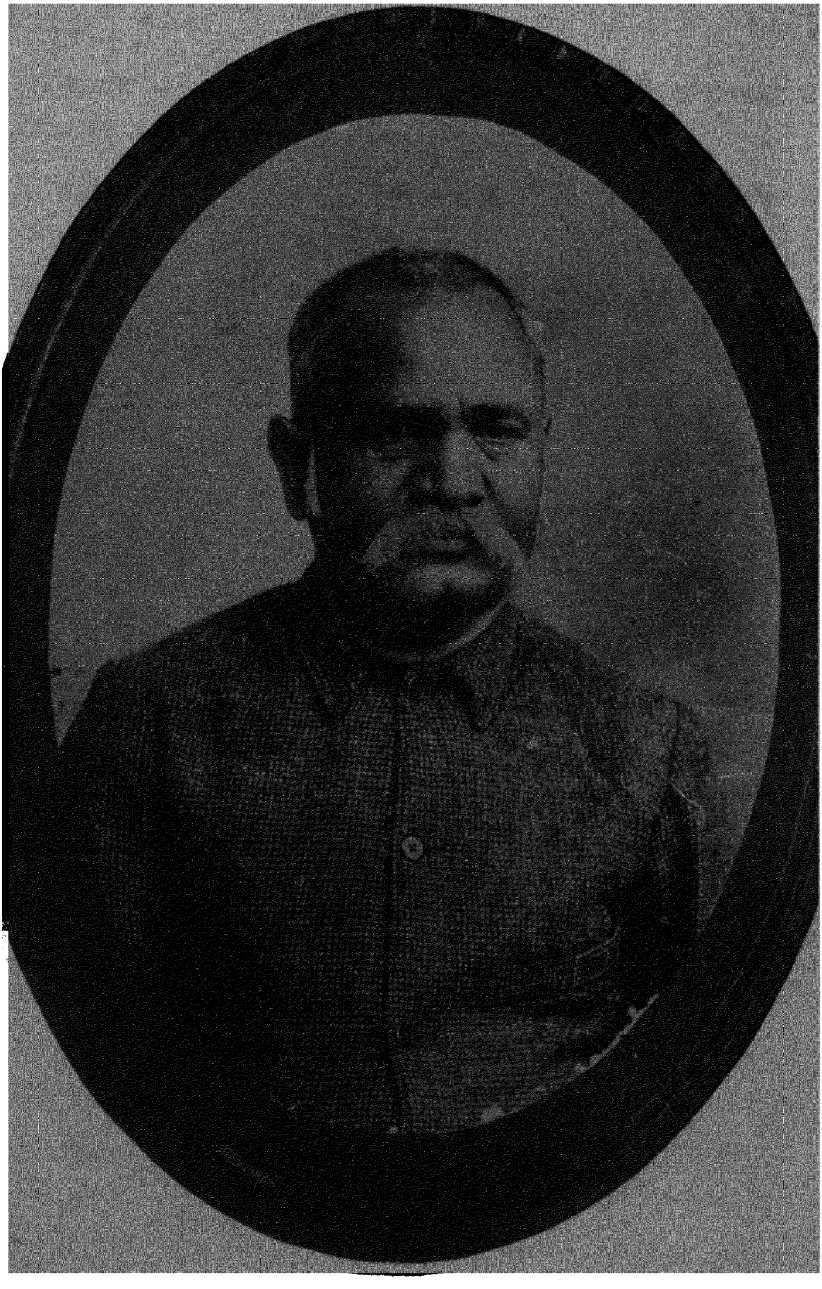

पंडित नाथूराम शंकर शर्म्मा ।

पंडित लक्ष्मीशंकर की विशेषता इस बात में थी कि वे हिंदी में गणित और विज्ञानविषयक ग्रंथों के पहले लेखक थे। इन ग्रंथों में हिंदी सुधरे हुए रूप में दृष्टिगोचर होती है, पर काशीपत्रिका, जो हिंदी और उर्दू दोनों में प्रकाशित होती थी, खिचड़ी भाषा में प्रकाशित होती थी। ऐसा होना एक प्रकार से अनिवार्य भी था, क्योंकि यह हिंदी-उर्दू दोनों भाषाओं के पढ़नेवाले विद्यार्थियों के लिये प्रकाशित होती थी। सिद्धांत-रूप में ये मिश्रित पर सहज भाषा के पक्षपाती थे और समय समय पर उसका समर्थन करते थे।

(१०) भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र

सुप्रसिद्ध सेठ अमीचंद के दोनों पुत्र राय रतनचंदबहादुर और शाह फतहचंद काशी में आ बसे थे। शाह फतहचंद के पौत्र बाबू हरखचंद ने अपने ही सद्व्यवहार से असंख्य संपत्ति कमाई और उसे सत्कार्य में व्यय करके बड़ी बड़ाई पाई। इनके पुत्र बाबू गोपालचंद हुए जो हिंदी भाषा के बड़े अच्छे कवि हो गए हैं। इन्होंने पौराणिक आधार पर ४० काव्य-ग्रंथ रचे और संस्कृत में भी कुछ कविता की। इनके सुपुत्र बाबू हरिश्चंद्र हुए।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का जन्म तारीख ९ सितंबर सन् १८५० ई० को हुआ था। बाबू साहब का स्वभाव चंचल और बुद्धि तीव्र थी। जिस समय इनकी केवल सात वर्ष की अवस्था थी तभी आपने एक दोहा रचकर पिता को समर्पित किया था। उस पर प्रसन्न होकर पिता ने इनको आशीर्वाद दिया कि तू अवश्य मेरा मुख उज्ज्वल करेगा। ऐसा ही हुआ भी। परंतु जिस समय इनकी अवस्था ९ वर्ष की थी इनके पिता का परलोकवास हो गया जिससे इनकी स्वतंत्र प्रकृति को और भी स्वच्छंदता

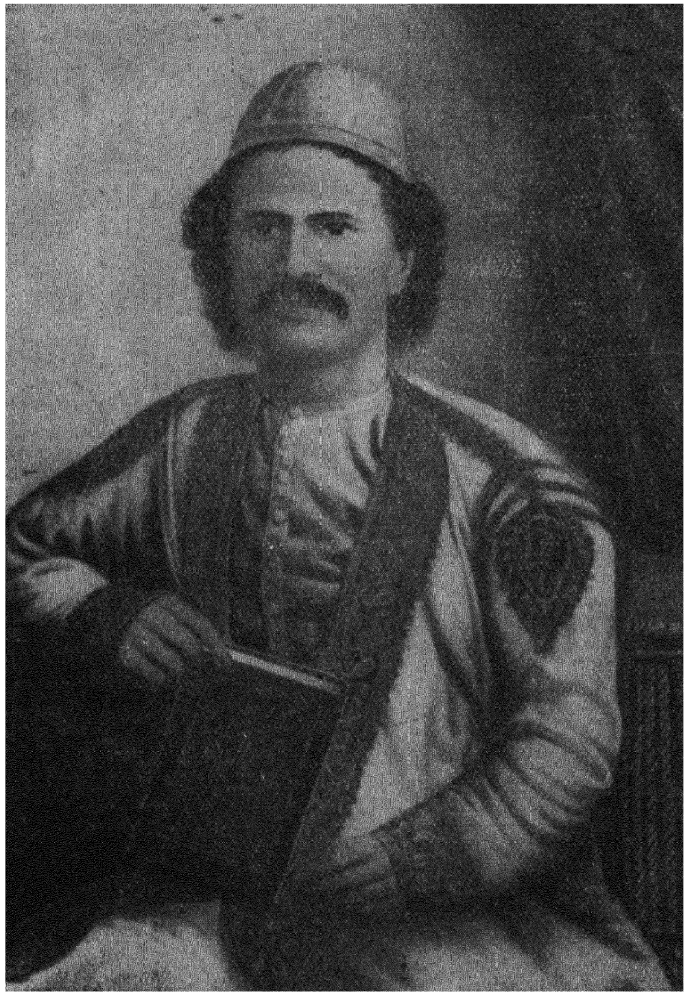

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ।

प्राप्त हो गई और ये सब काम मनमाने करने लगे। उसी समय इनकी पढ़ाई का सिलसिला शुरू हुआ। पहले तो इन्होंने कुछ दिन राजा शिवप्रसाद से अँगरेजी पढ़ी, फिर स्कूल में भरती हो गए। आप स्कूल जाते, अपना सबक भी याद कर ले जाते और अपनी विचित्र बुद्धि से पाठकों को भी संतुष्ट रखते, परंतु मन लगाकर न पढ़ते थे। तीन-चार वर्ष तक तो इनके पढ़ने-पढ़ाने का सिलसिला ज्यों-त्यों चलता गया परंतु सन् १८६४ ई० में अपनी माता के साथ ज्यों ही ये जगन्नाथ जी को गए त्यों ही इनका पढ़ना-लिखना भी छूट गया। परंतु कविता की ओर विशेष रुचि बढ़ गई।

जिस समय ये जगन्नाथ जी से लौट आए तो इनके चित्त में देश-हित का अंकुर प्रस्फुरित हुआ। इनको निश्चय हो गया कि पाश्चात्य शिक्षा के बिना कुछ नहीं हो सकता, इसलिये स्वयं पठित विषयों का अभ्यास करने लगे और अपने घर पर एक स्कूल भी खोल दिया जिसमें उस महल्ले के बहुत-से लड़के पढ़ने आने लगे। समय पाकर यह स्कूल चौखंभा स्कूल के नाम से प्रसिद्ध हुआ और आजकल यही स्कूल हरिश्चंद्र इंटरमीडियेट कालेज कहलाता है। इसके दूसरे वर्ष सन् १८६८ ई० में इन्होंने "कविवचनसुधा" को जन्म दिया जिससे एक काशी के क्या जहाँ-तहाँ के सब भाषा-कवियों की कविता प्रकाशित होने का द्वार खुल गया और जिसे पढ़ते-पढ़ाते कई एक हिंदी-प्रेमी अच्छे लेखक हो गए। सन् १८७० ई० में इन्हें आनरेरी मजिस्ट्रेट का पद मिला परंतु कुछ दिन बाद आपने स्वयं इस पद को छोड़ दिया। सन् १८७३ में आपने हरिश्चंद्र मेगजीन प्रकाशित करना आरंभ कर दिया परंतु केवल आठ अंक निकाल कर वह बंद कर दिया गया।

वैसे तो बाबू हरिश्चंद्र हिंदी-गद्य-पद्य की रचना सन् १८६४ से करने लगे थे, परंतु सन् १८७३ में इनकी लेखनी खूब परिमार्जित हो चुकी थी इसलिये अपने लेखन का आरंभ-काल इन्होंने सन् १८७३ से माना है। इस वर्ष इन्होंने पेनी रीडिंग (Penny Reading) नाम का समाज स्थापित किया, जिसमें हिंदी के अच्छे-अच्छे लेखक लेख लिख-लिख कर ले जाते अथवा समस्यापूर्ति करके सुनाते थे। इसी वर्ष में इन्होंने कर्पूरमंजरी और चंद्रावली नाटकों की रचना की।

बाबू साहब स्वयं जैसे बुद्धिमान्, विद्वान्, चतुर और बहुकलाकुशल थे वैसे ही वे और और गुणी जनों का भी आदर किया करते थे। उनका उचित सम्मान करते तथा उन्हें उचित पारितोषिक भी देते थे। इसी से इनके यहाँ सदैव अच्छे-अच्छे पंडितों, कवियों और अन्य प्रकार के गुणी लोगों का जमाव रहता था।

सन् १८७३ ही में आपने "तदीय समाज" नाम की एक सभा स्थापित की जिसका उद्देश्य केवल प्रेम और धर्मसंबंधी विषयों पर विचार करना था। दिल्ली-दरबार के समय इस समाज ने गोरक्षा के लिये एक लाख प्रजा से दस्तखत करवाए थे। इसी प्रकार इन्होंने कई एक सभा-समाज स्थापित किये, पत्र निकाले, या सहायता देकर निकलवाए, और निज से पारितोषिक और इनाम दे-देकर कई एक को कवि और सुलेखक बना दिया। इन्होंने अधिकतर नाटक और कविता में ही सब ग्रंथ रचे, इनके रचित ग्रंथों में काव्यों में प्रेम-फुलवारी, नाटकों में सत्य हरिश्चंद्र, चंद्रावली, धर्म-संबंधी ग्रंथों में तदीयसर्वस्व और ऐतिहासिक रचना में काशमीर-कुसुम चुने हुए ग्रंथ हैं। आप ऐतिहासिक विषय के बड़े प्रेमी थे और आपकी रचना प्रायः सब ऐतिहासिक विषयों से संबंध रखती है।

बाबू हरिश्चंद्र जी की हिंदी चिर-ऋणी रहेगी। यह इन्हीं के उद्योग का फल है कि आज दिन हिंदी का इतना प्रचार है। इसकी सहायता में इन्होंने अपने को सब प्रकार के सुखों से वंचित कर दिया। हिंदी-आकाश-मंडल में, जब कि घोर अंधकार छा रहा था, भारतेंदु के उदय से वह प्रकाश फैला कि जिसकी कोमुदी से अब तक लोग आनंदित और सुखी होते हैं। इन्हीं बातों का स्मरण कर समस्त हिंदी-समाचारपत्रों ने भारतेंदु की उपाधि से इन्हें सम्मानित किया। इस उपाधि का आदर राजा और प्रजा दोनों ने किया जो हिंदी के लिये एक विचित्र घटना है।

बाबू साहब का स्वर्गलोकगमन ३५ वर्ष की अवस्था में तारीख ६ जनवरी सन् १८८५ को हुआ।

भारतेंदु जी के उदय के पूर्व हिंदी-साहित्य का संबंध समाज से छूट गया था। समाज में समयानुकूल परिवर्तन हो रहे थे, पर हिंदी कविता अपनी पुरानी परिपाटी पर चल रही थी। रीति-काल की कविता में जो श्रृंगारिकता का भाव प्रबल हो रहा था उससे कवियों में अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने की प्रवृत्ति प्रबल हो रही थी। इसने समाज का बहुत कुछ अनिष्ट किया था। कवि का कार्य समाज को उत्तेजित करना, उत्साहित करना, और सन्मार्ग पर लगाना था। पर वहाँ देश की चिंता नहीं थी, वहाँ तो स्वार्थसाधन एकमात्र ध्येय था। भारतेंदु ने इस प्रवृत्ति को समझा और इसके अनिष्टकर परिणामों का अनुभव किया। वे कविता को नये मार्ग पर ले चले। देशहितैषिता के भावों से उसे भर दिया।

इसी प्रकार गद्य-साहित्य की सर्वतोमुखी उन्नति का ध्येय उन्होंने अपने सामने रक्खा। राजा शिवप्रसाद जिस भाषा के प्रचलन के समर्थक थे भारतेंदु जी को वह रुचिकर न हुई। उन्होंने राजा लक्ष्मणसिंह के

मार्ग पर चलने में ही हिंदी का हित समझा और सब प्रकार से उसके प्रचार करने में वे दत्तचित्त हुए। समाचारपत्र निकाले, सामयिक पत्रिकाओं का सूत्रपात किया, पुस्तकें लिखीं और लिखवाईं, व्याख्यान दिए। कहने का तात्पर्य इतना ही कि उन्होंने अपने उद्देश्य में सफलता पाने में कोई बात उठा नहीं रक्खी, यहाँ तक कि अपनी संपत्ति को भी इस कार्य में स्वाहा कर दिया। यह तपस्या, यह बलिदान व्यर्थ नहीं गया। इसका सुंदर फल यथासमय मिला, पर दुःख इस बात का है कि भारतेंदुजी ने बीजारोपण किया उससे उगते हुए विशाल वृक्ष को वे न देख सके; उसके पल्लवित, पुष्पित और फलान्वित होने की बात तो दूर रही।

उनके अनुगामियों की एक अच्छी मंडली उपस्थित हो गई और वह साहित्य के सब अंगों की पुष्टि की चेष्टा में तत्पर हुई।

सच तो यह है कि भारतेंदु के लगाए हुए वृक्ष के मधुर फलों का आस्वादन हम कर रहे हैं और हिंदी को फलते-फूलते देखकर फूले अंगों नहीं समाते।

उनकी कृतियों की आलोचना करना असंगत होगा। वह युग हिंदी के आधुनिक उत्थान का था। उस समय त्रुटियों का रहना अनिवार्य था।

(११) लाला श्रीनिवासदास

लाला श्रीनिवासदास जाति के वैश्य थे। उनके पिता का नाम लाला मंगलीलाल जी था। वे मथुरा के सुप्रसिद्ध सेठ लक्ष्मीचंद जी के प्रधान मुनीब थे। कहने को तो वे मुनीब थे पर वास्तव में वे सेठ जी के दीवान थे। वे दिल्ली की कोठी के कारिंदे थे और वहीं रहते थे।

लाला श्रीनिवासदास ।

लाला श्रीनिवासदास का जन्म संवत् १९०८ (सन् १८५१ ई०) में हुआ था। ये बाल्यावस्था से ही बड़े शीलवान्, सदाचारी और चतुर थे। इन्होंने आरंभ में हिंदी और फिर उर्दू, फारसी, संस्कृत और अँगरेजी आदि भाषाओं में अभ्यास करके शीघ्र ही अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। महाजनी कारोबार में तो इन्होंने ऐसी दक्षता प्राप्त कर ली थी कि केवल अठारह वर्ष की अवस्था में दिल्ली की कोठी का सारा कारोबार हाथों हाथ सँभाल लिया। इनकी ऐसी योग्यता देखकर पंजाब-प्रान्त की गवर्मेंट ने इन्हें म्युनिसिपल कमिश्नर बनाया और आनरेरी मजिस्ट्रेट की पदवी प्रदान की। इनकी जैसी रीझ-बूझ सरकार में थी वैसे ही बिरादरीवाले और शहर के महाजन लोग भी इनको मानते थे। लाला श्रीनिवासदास को दिल्ली की कोठी का कारोबार करने के अतिरिक्त इधर-उधर दौरा करके और-और कोठियों की भी देख-भाल करनी पड़ती थी, इससे इन्हें अपनी बुद्धि को परिमार्जित करने का और भी अच्छा अवसर हाथ लगा। इन्हें मातृभाषा हिंदी से स्वाभाविक प्रेम था। आप जहाँ कहीं बाहर जाते और वहाँ कोई हिंदी का लेखक या रसिक होता तो उससे अवश्य ही मिलते। यदि इनके यहाँ कोई हिंदी का गुणग्राही आ जाता तो सब काम छोड़कर उससे बड़े प्रेम से मिलते और उसका अच्छा सत्कार करते।

एक बार आप पंडित प्रतापनारायण मिश्र के यहाँ मिलने गए और बड़ी नम्रतापूर्वक इन्होंने उन्हें एक मोहर नजर करनी चाही। इस पर पंडित प्रतापनारायण बेतरह बिगड़े और बोले, आप हमारे पास अपने धन की गरूरी बतलाने आए हो। इसके उत्तर में इन्होंने नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर उत्तर दिया कि नहीं महाराज, मैं तो मातृभाषा के मंदिर पर अक्षत चढ़ाता हूँ।

लाला श्रीनिवासदास को हिंदी से बड़ा प्रेम था और इसकी सेवा करने का बड़ा उत्साह था परंतु काम-काज के झंझट के कारण इन्हें अवकाश बहुत कम मिलता था। इसलिये इनके लिखे हुए तप्तासंवरण, संयोगितास्वयंवर, रणधीरप्रेममोहिनी और परीक्षा-गुरु ये ही चार ग्रंथ हैं, पर फिर भी ये चारों ग्रंथ एक से एक बढ़कर हैं। परीक्षागुरु में इन्होंने जो एक साहूकार के पुत्र के जीवन का दृश्य खींचा है उसे देखकर स्पष्ट प्रकट होता है कि इन्हें सांसारिक व्यवहारों का कैसा अच्छा अनुभव था।

खेद के साथ कहना पड़ता है कि लाला श्रीनिवासदास केवल ३६ वर्ष की अवस्था में सवंत् १९४४ (सन् १८८७) में कालकवलित हुए। यदि ये कुछ दिन और रहते तो हिंदी भाषा की बहुत कुछ सेवा करते। इनका चरित्र और स्वभाव आदर्श मानने योग्य है।

लाला श्रीनिवासदास की भाषा में प्रांतीयता की मिठास है। वे बहुत दिनों तक दिल्ली में रहे इस कारण इनकी भाषा दिल्लीपन लिए हुए है और शब्दों के उच्चारण में भी वहाँ का प्रभाव वर्तमान है। नाटकों में इन्होंने संस्कृत नाट्यशास्त्र की पद्धति के अनुसार पात्रों के वार्तालाप, उनकी अपनी अपनी भाषा में कराया है।

(१२) बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री

बाबू कार्तिकप्रसाद के पितामह गोविंदप्रसाद जी तीर्थाटन की इच्छा से वृंदावन में आए और फिर वे वहीं रहने लगे। वे अरबी फारसी में अच्छी योग्यता रखते थे और हकीमी विद्या में भी निपुण थे। इसलिये भरतपुर के महाराज के कृपापात्र होकर उसी दरबार में हकीम के पद पर नियत होकर रहने लगे। परंतु सन् १८२८ में

बाबू कार्तिकप्रसाद ।

जब भरतपुर अँगरेज सरकार ने विजय कर लिया तब वे कलकत्ते में आकर रहने लगे। यहाँ उन पर सरकार की कृपा रही और वे २००) मासिक पाते रहे। इसी प्रकार उनके पुत्र बलदेवप्रसाद जी भी हकीमी विद्या में निपुण हुए और वे भी सरकार के कृपापात्र रहे।

बाबू कार्तिकप्रसाद का जन्म संवत् १९०८ मिति अगहन बदी ७ को कलकत्ते में हुआ था। इनके पिता बलदेवप्रसाद जी ने इन्हें यथासाध्य अच्छी शिक्षा देने का प्रबंध किया था परंतु सन् १८७० में जब उनका देहांत हो गया तब इनकी अवस्था केवल १७ वर्ष की थी। दुर्भाग्यवश इसी वर्ष इनकी माता का भी परलोकवास हो गया। इसी कारण सांसारिक व्यवहारों का भार सिर पर आ पड़ने के कारण ये आगे शिक्षा न पा सके और न प्राप्तशिक्षा का उचित उपयोग कर सके। उस समय तक इन्होंने अँगरेजी में एंट्रेंस परीक्षा तक पढ लिया था और संस्कृत के अतिरिक्त वैद्यक-विद्या में भी कुछ अभ्यास कर लिया था। बँगला भाषा में भी इन्होंने अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली थी।

परंतु अपनी मातृभाषा हिंदी से इन्हें स्वाभाविक अनुराग था। 'सारसुधानिधि' के संपादक पंडित सदानंद जी से हेल-मेल होने के कारण इनका इस ओर और भी उत्साह बढ़ा और इन्हीं की सहायता से इन्होंने १४ वर्ष की अवस्था में "जन्मभूमि और अन्न से मनुष्य की उत्पत्ति" विषय पर एक निबंध हिंदी में लिखकर सर्वसाधारण के संमुख पढ़ा। सन् १८७१ ई० में इन्होंने "प्रेम-विलासिनी" मासिक पत्रिका और "हिंदी-प्रकाश" साप्ताहिक पत्र प्रकाशित करना आरंभ किया। कलकत्ते में उस युग के हिंदी के ये पहले अच्छे समाचार-

पत्र थे। इन्होंने हिंदी के "नंदकोष" नामक पद्यकोष को अकारादि क्रम से लिखकर संपादित किया और सारस्वत के पूर्वार्द्ध का भाषानुवाद करके उसका "सारस्वतदीपिका" नाम रखा।

पिता के देहांत होने के पश्चात् इन्होंने कई एक व्यापार उठाए परंतु सबमें घाटा हुआ। अंत में इन्होंने एक बिसातखाने की दूकान खोली सो उसे एक कृतघ्न मित्र ने बिलकुल अपना लिया। इन्हीं सब कारणों से उचाटचित्त होकर इन्होंने कलकत्ता छोड़कर काशी का रहना पसंद किया। कलकत्ते से आकर इन्होंने कुछ दिन लखनऊ के डाक-विभाग में काम किया और कुछ दिन अपने मामा वकील छन्नूलालजी की जमींदारी का भी प्रबंध किया। परंतु कुछ काल पश्चात् यह सब छोड़कर इन्होंने रीवाँ की यात्रा की। रीवाँधिपति महाराज रघुराजसिंहजी इनसे मिलकर अत्यंत प्रसन्न हुए और उन्होंने इन्हें कृपापूर्वक अपना मुसाहिब बनाकर अपने पास रखा।

११ वर्ष रीवाँ में रहकर आप पुनः काशी को चले आए। सन् १८८४ ई० में बलिया जिले के बंदोबस्त के मुहकमे में हिंदी जारी होने का प्रयत्न हो रहा था। अस्तु, यहाँ से बाबू हरिश्चंद्र जी ने आपको प्रतिनिधि बनाकर हिंदी का पक्ष समर्थन करने को भेजा। वहाँ से लौटते समय आप काशी न आकर सीधे आसाम को चले गए और विसड़गढ़, कामरूप, सिलहट, कछार, मनीपुर आदि स्थानों में होते हुए शिलाँग में आए। यहाँ इन्होंने पंजाबी शाल वगैरह की दूकान खोली, चंदा करके जगन्नाथ का मंदिर बनवाया और रथयात्रा का मेला स्थापित किया, तथा "मित्र-समाज" नामक एक सभा स्थापित की। बंबई में जब गोरक्षा-मिमोरियल की बात चली थी तब आपने आसाम से दस हजार व्यक्तियों के हस्ताक्षर करवाए थे।

आसाम से लौटकर जब से आप काशी जी में आए तब से फिर कहीं नहीं गए। केवल एक बार काश्मीर की यात्रा की थी। काशी में रहकर भारतजीवन का संपादन और उत्तमोत्तम पुस्तकें लिखकर हिंदी-साहित्य की सेवा करते रहे। आपने कोई बीस पुस्तकें लिखीं जिनमें से कुछ तो बँगला के अनुवाद हैं। आप कुछ दिन तक काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के उपसभापति भी रहे थे और उसकी उन्नति में सदा दत्तचित्त रहते थे। आपका देहांत तारीख ९ जुलाई सन् १९०४ को काशी में हुआ।

इनके 'इला', 'प्रमोला', 'जया', और 'मधु-मालती' नामक उपन्यास प्रकाशित हुए थे और ये 'सरस्वती' पत्रिका के प्रथम वर्ष के संपादकों में थे। इनकी भाषा सरल और मनोहर होती थी। इनका हिंदी-प्रेम बहुत बढ़ा-चढ़ा रहा। जब तक ये जीवित रहे काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के कामों में संलग्न रहे और सदा उसकी उन्नति के उपाय सोचते रहे।

(१३) पंडित भीमसेन शर्मा

जिला फर्रुखाबाद में मेरापुर नाम का एक गाँव है। उसी के समीप रामपुर एक बस्ती है। रामपुर किसी क्षत्रियवंश की राजधानी थी। मेरापुर में उस राजवंश के पुरोहित धृतकौशिक गोत्री ब्राह्मण रहते थे। उनका आस्पद मिश्र था। कालवश उक्त राजधानी के नष्ट होने पर मेरापुर भी उजड़ गया।

उक्त मिश्रवंश में से एक पंडित हरिराम शर्म्मा जिला एटा तहसील अलीगंज के लालपुर नाम के गाँव में आ बसे। उनसे छठी पीढ़ी में नेकराम शर्म्मा का जन्म हुआ।

हमारे चरित-नायक पंडित भीमसेन शर्म्मा इन्हीं नेकराम जी के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १९११ में हुआ। ढाई वर्ष की अवस्था होने पर इनकी माता का परलोकवास हो गया, तब से ये पिता के पास रहने लगे और बोलने की शक्ति होते ही हिसाब सीखने लगे, क्योंकि इनके पिता गणित-विद्या में बड़े निपुण थे।

उस समय बालकों के पढ़ने का कोई उचित प्रबंध नहीं था पर इस ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हो चुका था। इसलिये गाँव के सब लोगों ने मिलकर एक कायस्थ लाला को उर्दू पढ़ाने पर रखा। गाँव के सब लड़कों के साथ पंडित भीमसेन भी उर्दू पढ़ने लगे। ये अपनी तीव्र बुद्धि से अपना पाठ बड़ी सावधानी से घोख लेते थे परंतु लाला जो इनसे प्रसन्न होने के बदले अप्रसन्न रहते थे। वे सोचते थे कि यदि इसी तरह सब लड़के पढ़ गए तो हमारी जीविका कैसे चलेगी। कुछ दिनों के अनंतर लाला जी चले गए और सब लड़के अधकचरे रह गए, परंतु भीमसेन जी दूसरे गाँव में जाकर पढ़ आते थे। इस तरह से पढ़ने-लिखने योग्य उर्दू की योग्यता प्राप्त कर लेने पर इन्होंने हिंदी का अध्ययन आरंभ किया और इसके पीछे संस्कृत-व्याकरण पढ़ना आरंभ किया।

१७ वर्ष की अवस्था तक इन्होंने घर पर अध्ययन किया परंतु संवत् १९२५-२६ में जब स्वामी दयानंद जी ने फर्रुखाबाद में संस्कृत-पाठशाला स्थापित की तब ये वहाँ पढ़ने चले गए और अष्टाध्यायी व्याकरण की श्रेणी में भरती हुए। इन्होंने दो वर्ष में संपूर्ण अष्टाध्यायी पढ़ ली और इसके अनंतर व्याकरणमहाभाष्य, पिंगलसूत्र, स्वरप्रकरण, चंद्रालोककारिका, अलंकार और माघ काव्य आदि ग्रंथों को एक साथ पढ़ा और एक वर्ष में इन सबमें प्रवेश कर लिया। तदनंतर २१ वर्ष

की अवस्था में इनका विवाह हुआ और फिर ये काशी में आकर दर्शनशास्त्र पढ़ने लगे।

इस समय स्वामी दयानंद जी भी काशी में थे। पंडित भीमसेन उन्हीं के यहाँ लिखा-पढ़ी का काम करने लगे। उन्हीं के साथ इन्होंने दिल्ली-दरबार देखा और दो वर्ष तक पंजाब में पर्य्यटन किया। फिर काशी में रहकर ये दर्शनग्रंथ पढ़ने लगे। यहाँ बीमार पड़ने के कारण वे घर चले गए और वहाँ से फिर स्वामी जी के साथ रहने लगे। संवत् १९४० में जब स्वामी दयानंद जी का स्वर्गवास हो गया तब ये वैदिक यंत्रालय प्रयाग में संशोधक के कार्य पर नियत हुए। यहाँ रहकर इन्होंने बहुत-सी दर्शन और वैदिक पुस्तकों का भाषानुवाद किया और कई पुस्तकें स्वतन्त्र रचीं। संवत् १९४२ में इन्होंने आर्य्यसिद्धांत नाम का एक मासिक पत्र निकाला और उपनिषदादि कई पुस्तकों पर भाष्य लिखे। कुछ दिनों के पीछे उक्त प्रेस के मैनेजर से बिगाड़ हो जाने के कारण इन्होंने वह नौकरी छोड़ दी और अपना घर का प्रेस कर लिया।

वैदिक यंत्रालय से संबंध छोड़ने के दस-बारह वर्ष के अनंतर कलकत्ते के सेठ माधवप्रसाद खेमका इनके पास गए और इनसे कहा कि हम यज्ञ किया चाहते हैं उसे आप वेद की विधि से कराइए। इन्होंने सेठ जी के अनुरोध से जब वेद में यज्ञ की विधि देखी तो उसे प्रायः आर्य्य-समाज के सिद्धांत के बहुत प्रतिकूल पाया। इन्होंने सेठ जी से कहा तो सेठ जी ने कहा कि आर्य्य-समाज से कुछ प्रयोजन नहीं, हम वेद-विधि से यज्ञ किया चाहते हैं। अस्तु, इन्होंने उसी समय से आर्य्य-समाज से अपना संबंध छोड़ दिया और वेद-विधि से यज्ञ कराया। इस पर आर्य्यसमाजी लोग इनसे बहुत कुछ बिगड़े और अखबारों में इनकी

बड़ी निंदा छापी। इन्होंने उसका प्रतिवाद किया और "आर्य्य-समाज" को वेदविरुद्ध धर्म सिद्ध किया। इन्होंने आगरे के आर्य्यसमाज से श्राद्धविषय पर शास्त्रार्थ भी किया। इसी के कुछ दिनों बाद ब्राह्मणसर्वस्व नामक मासिक पत्र निकाला।

इसके अनंतर इटावा नगर में बैठकर ये भगवद्भजन में समय बिताते रहे और विद्या-व्यसन में रत रहते। एक बार जब आर्य्य-समाज में मांसाहारी दल की प्रबलता हुई तब इन्हें जोधपुर में बुलाकर लोगों ने १००) मासिक पर उपदेशक नियत करके मांस खाने को वेद से सिद्ध कराना चाहा था पर इन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया। सन् १९१२ में कलकत्ता-विश्वविद्यालय में आप "वेद" के अध्यापक नियत हुए और कई वर्ष तक उस काम को करते रहे। इनका देहांत चैत्र कृष्ण १२ संवत् १९७४ को हुआ।

(१४) पंडित केशवराम भट्ट

पंडित केशवराम भट्ट महाराष्ट्र ब्राह्मण थे। इनके पूर्वज बहुत दिनों से बिहार में रहने लगे थे। यद्यपि इनका आस्पद 'पाठक' था परन्तु इधर दक्षिण के ब्राह्मण-मात्र को लोग भट्ट कहते हैं इसी से यह उनकी कुल परम्परा की उपाधि हो गई। इनके पिता एक धनवान् और प्रतिष्ठित पुरुष थे। वे महाजनी का काम करते थे।

पंडित केशवराम का जन्म आश्विन कृष्ण पंचमी संवत् १९११ को हुआ था। इनके जन्म होने के छः महीने पहले ही इनके पिता का पर-लोकवास हो गया था। परंतु इनके बड़े भाई पंडित मदनमोहन भट्ट होशियार थे। उन्होंने घर का काम-काज सँभाला और इनकी शिक्षा

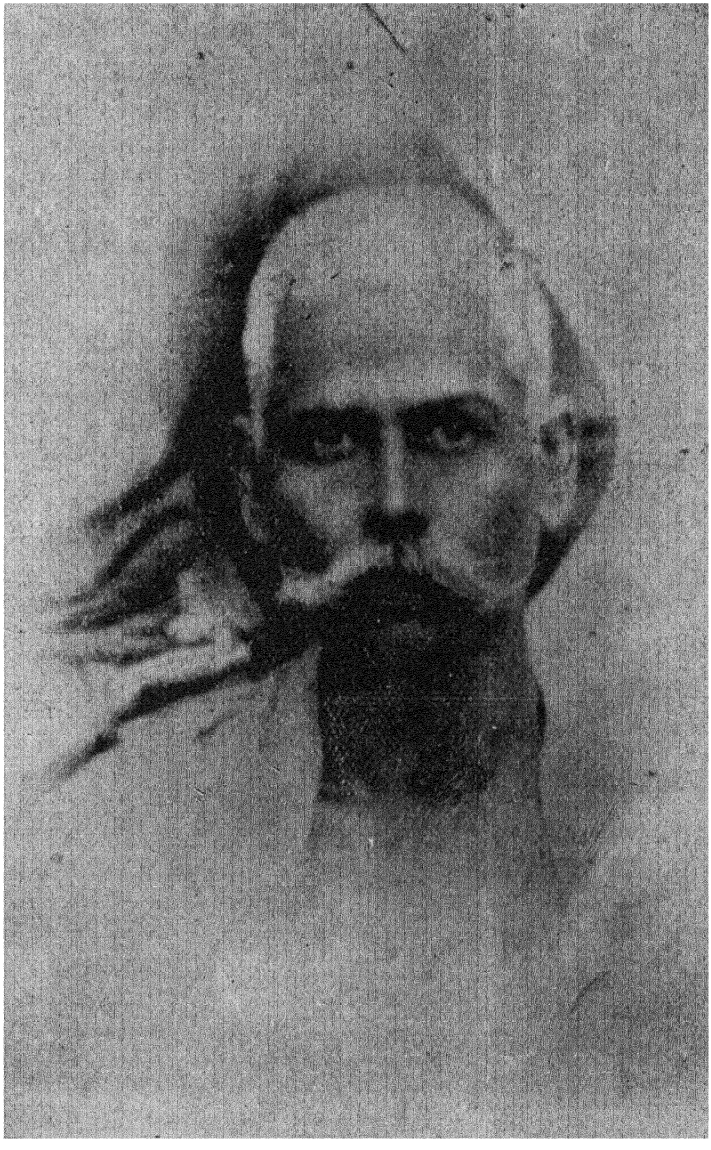

पंडित केशवराम भट्ट ।

का प्रबंध किया। इनकी माता स्वयं शिक्षिता और बुद्धिमती थीं, अतएव आरंभ में उन्होंने इनको उचित शिक्षा दी। कुछ बड़े होने पर इन्होंने महाजनी और हिंदी पढ़ी और फिर उर्दू और फारसी में अच्छी योग्यता प्राप्त करने के पश्चात् इन्होंने अँगरेजी पढ़ना आरंभ किया। सन् १८७२ में इन्होंने एंट्रेंस परीक्षा पास की और फिर एफ० ए० में भी अभ्यास किया परंतु परीक्षा में उत्तीर्ण न हो सके इसलिये इन्होंने पढ़ना छोड़ दिया।

पंडित केशवराम जी ने सन् १८७४ में "बिहार-बंधु" प्रेस खोला और उसी के साथ "बिहारबंधु" समाचार-पत्र को प्रकाशित अरना आरंभ किया। आप किसी कार्यविशेष से कुछ दिन के लिये कलकत्ते चले गए थे। इसलिये इनके सहपाठी मुंशी हसनअली बिहारबंधु के संपादक हुए और ये उसकी केवल लेखों से सहायता करते रहे। इसी समय बिहार के स्कूलों के सर्किल इंसपेक्टर के आज्ञानुसार बोधोदय नामक एक बँगला पुस्तक का इन्होंने भाषानुवाद किया और उसका नाम विद्या की नींव रक्खा। यह पुस्तक बहुत दिनों तक बिहार के स्कूलों में चलती रही।

सन् १८७५ ई० में 'बिहारबंधु' का सम्पादन इन्होंने स्वयं अपने हाथ में लिया और इसी वर्ष "बिहार-उपकारक सभा" स्थापित की।

इन दिनों बिहार में तथा अन्यत्र भी नाटकों की अच्छी चर्चा थी। अस्तु, कई एक अंतरंग मित्रों की प्रेरणा से आपने "शमशाद सौसन" नाम का पहला नाटक लिखा। इसका अभिनय भी हुआ जिससे दर्शक-मंडली अत्यंत प्रसन्न हुई और इनका भी उत्साह बढ़ा। फिर इन्होंने दूसरा नाटक "सज्जाद संबुल" लिखा।

सन् १८७७ ई० में आप दरभंगा के स्कूलों के आफिशियेटिंग डिप्टी इंसपेक्टर नियत हुए। इस पद पर इन्होंने बड़ी योग्यता और मुस्तैदी से काम किया और सन् १८७९ ई० में आप नार्मल स्कूल के आफिशियेटिंग हेड मास्टर हुए।

कुछ दिनों के पश्चात् आप स्थानीय बिहार हाई इँगलिश स्कूल के हेड पंडित के पद पर नियत हुए और १३ वर्ष तक अर्थात् अपने अंतिम समय तक उसी पद पर काम करते रहे।

पंडित केशवराम भट्ट हिंदी के अच्छे लेखकों में से थे। यद्यपि इन्होंने पुस्तकें बहुत नहीं लिखी हैं, पर जो लिखी हैं सब उपयोगी हैं। आपकी लिखी पुस्तकें ये हैं—

(१) विद्या की नींव, (२) भारतवर्ष का इतिहास—बंगला भाषा से अनुवादित, (३) शमशाद सौसन नाटक, (४) सज्जाद संबुल नाटक, (५) हिंदी का व्याकरण, (६) रासेलस (अनुवाद)।

इनके बड़े भाई पंडित मदनमोहन भट्ट भी अच्छे लेखक थे। उन्होंने हिंदीमहाभारत लिखा था और इसके सिवाय कई छोटी-छोटी पुस्तकें भी लिखी थीं जिन सबमें से लोकनीति एक प्रशंसनीय पुस्तक है।

पंडित केशवराम भट्ट एक सुचरित्र पुरुष थे। ये बड़े शुद्धचित्त, शांतस्वभाव, स्पष्टवक्ता, मिलनसार और निरभिमानी थे। इनका देहांत १९६२ संवत् के लगभग हुआ।

इन्होंने बिहार में हिंदी-प्रचार के लिये विशेष उद्योग किया था। इनके नाटकों की भाषा उर्दू मिश्रित है, जो उनके नामों से ही प्रकट होता है। बिहारबंधु हिंदी के मान्य पत्रों में था और उसके द्वारा हिंदी के प्रचार में विशेष सहायता पहुँची थी।

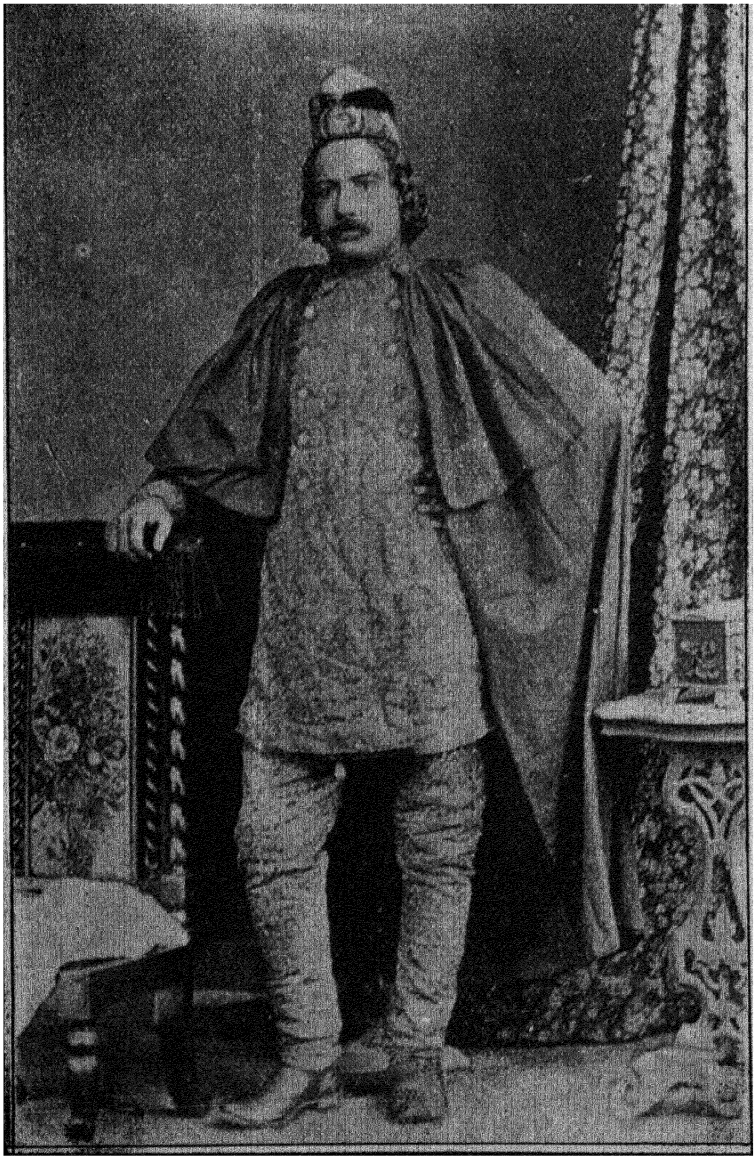

उपाध्याय पंडित बदरीनारायण चौधरी।

(१५) उपाध्याय पंडित बदरीनारायण चौधरी

पंडित बदरीनारायण चौधरी भारद्वाज गोत्र के सरयूपारीण ब्राह्मण खोरिया उपाध्याय थे। इनके दादा पंडित शीतलप्रसाद उपाध्याय मिर्जापुर के एक प्रतिष्ठित रईस, महाजन, व्यापारी और जमींदार थे। इन्होंने अपने ही बाहुबल से बहुत कुछ धन, मान और प्रतिष्ठा प्राप्त की। इनके एकमात्र पुत्र पंडित गुरुचरणलाल उपाध्याय हुए जो अपने पैत्रिक तथा सांसारिक कार्यों का भली भाँति संपादन करते हुए ब्राह्मण-गुणों में आदर्श हुए। इन्होंने बहुत कुछ द्रव्य व्यय करके कई संस्कृत-पाठशालाएँ खोलीं जिनमें विद्यार्थियों को भोजन आच्छादन आदि का भी उपयुक्त प्रबंध है।

इनके ज्येष्ठ पुत्र हमारे चरित-नायक पंडित बदरीनारायण चौधरी का जन्म संवत् १९१२ भाद्रपद कृष्ण ६ को हुआ। प्रायः पाँच वर्ष की अवस्था के पूर्व इनकी सुशीला और शिक्षिता माता ने स्वयं इन्हें हिंदी पढ़ाना आरंभ कर दिया, तो भी इन्हें गुरु जी के यहाँ कुछ दिनों तक हिंदी पढ़नी पड़ी थी। संवत् १९१७ में इन्हें फारसी की शिक्षा दी जाने लगी। फिर अँगरेजी प्रारंभ कराई गई, पर कई कारणों से पढ़ाई का सिलसिला ठीक न चल सका। कुछ दिनों तक गोंडे में रहकर इन्होंने विद्याध्ययन किया। यहाँ अवधेश महाराज सर प्रतापनारायणसिंह, लाल त्रिलोकीनाथसिंह और राजा उदयनारायणसिंह आदि का साथ हो जाने से इन्हें अश्वारोहण, गजसंचालन, लक्ष्यवेध और मृगया से अधिक अनुराग हो गया और यही मानों इनके बाल्यावस्था में क्रीड़ा की सामग्री थी। ये निज सहचरों के संग प्रायः घुड़दौड़ करते और शिकार खेलते थे।

संवत् १९२४ में ये वहाँ से फैजाबाद चले आए और वहाँ के जिला स्कूल में पढ़ने लगे। उसी वर्ष इनका विवाह भी बड़ी धूमधाम से जिला जौनपुर के समंसा ग्राम में हुआ। संवत् १९२५ में इनके पितामह का स्वर्गवास होने से इन्हें मिर्जापुर लौटकर पुनः जिला स्कूल में पढ़ना पड़ा और संवत् १९२७ के आरंभ में इन्हें स्कूल का पढ़ना छोड़ स्वतंत्र मास्टर से पढ़ने और घर के कार्यों की देख-भाल में लगना पड़ा। फिर इनके पिता ने इन्हें संस्कृत पढ़ाना आरंभ किया क्योंकि वे हिंदी, फारसी के अतिरिक्त संस्कृत में अच्छे पंडित और उसके विशेष अनुरागी थे। उन्हें प्रायः अन्य नगरों और विदेशों में भ्रमण करना पड़ता था, इसी से अपने पारिषद्-वर्गों में से पंडित रामानंद पाठक को जो एक अच्छे विद्वान् थे, इन्हें पढ़ाने के लिये नियुक्त किया। इन पंडित जी के कारण इन्हें कविता से अनुराग हुआ और ये ही इनके मानों कविता के भी गुरु थे। किंतु घर के कामों में पड़ने से इनकी प्रकृति में भी परिवर्तन हो चला। क्रमशः आनंद, विनोद, मनबहलाव की सामग्रियाँ प्रस्तुत होने लगीं, पर साथ ही साहित्य की चर्चा भी रही। संगीत पर इनका अनुराग सबसे अधिक प्रबल हुआ और ताल-सुर की परख बेहद बढ़ चली। निदान अब चित्त दूसरी ही ओर लग चला तथा भाँति भाँति के कार्यों के संग दूसरे-दूसरे नगरों के परिभ्रमण में भी न्यूनता न रही। संवत् १९२८ में ये प्रथम बार कलकत्ते गए और वहाँ से लौटने पर बरसों बीमार पड़े रहे, जिसमें इन्हें साहित्य-संबंधी विशेषतः ब्रजभाषा के बहुत-से प्राचीन ग्रंथों को देखने और सुनने का अवसर मिला। संवत् १९२९ में इनसे पंडित इंद्रनारायण शंगलू से मित्रता हुई जो बहुत ही कुशाग्रबुद्धि, कार्य्यपटु, नवीन विचार के तथा देशहित करनेवाले मनुष्यों में से थे। इनके द्वारा इन्हें सभा, समाज

और समाचार-पत्रों से अनुराग तथा उर्दू-शायरी में उत्साह बढ़ा। इन्हीं के द्वारा भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र जी से चौधरी साहब की जान-पहिचान हुई जो क्रमशः मैत्री में परिणत हो गई। यह मैत्री उत्तरोत्तर दृढ़ होती गई और अंत तक उसका पूरा निर्वाह हुआ। संवत् १९३० में इन्होंने "सद्धर्मसभा" और १९३१ में "रसिकसमाज" तथा यों ही क्रमशः और कई सभाएँ स्थापित कीं। १९३२ में इन्होंने कई कविताएँ लिखीं और १९३३ में इनके कई लेख कविवचनसुधा में छपे। बस अब तो उत्तरोत्तर कई कविताएँ लिखी गईं। संवत् १९३८ में आनंदकादंबिनी की प्रथम माला प्रकाशित हुई और १९४९ से "नागरीनीरद" साप्ताहिक समाचारपत्र का संपादन आरंभ हुआ। इन दोनों पत्र और पत्रिकाओं में इनके अनेक गद्य-पद्यात्मक लेख आदि छपे। इनकी केवल वे ही कृतियाँ प्रकाशित हो सकीं जो समय के अनुरोध से अत्यावश्यक जान पड़ीं और चटपट निकल गईं जैसे "भारतसौभाग्य नाटक," "हार्दिक हर्षादर्श," "भारतबधाई," "आर्य्याभिनंदन" इत्यादि, अथवा जो बहुत आग्रह की माँग के कारण लिखी गई यथा—"वर्षाबिंदु" वा "कजलीकादंबिनी।" इसका कारण यह था कि इनकी कविता का उद्देश्य प्रायः निज मन का प्रसादमात्र था, इसी से ये उसके प्रचार वा प्रकाशित करने के विशेष प्रयासी न हुए और न इसके द्वारा धन, मान या ख्याति के अभिलाषी हुए। इसी से स्वस्थता तथा प्रसन्नता के समय जब जिस विषय पर चित्त आया वह लिखा और जहाँ से उचटा छोड़ दिया। लिखने-पढ़ने के विषय में बारंबार इनका बढ़ता हुआ उत्साह घर के लोगों ने ऐसा भंग किया कि ये प्रायः इस अंश में उत्साह-हीन-से हो गये। निस्संदेह इनकी निरंतर पारिवारिक परतंत्रता इनके विद्या-वैभव की बड़ी बाधक हुई। तिस पर भी जो कुछ अब तक प्रकाशित

हुआ है वही इनकी कुशाग्रबुद्धि और कविताशक्ति का परिचायक है। कविता में ये अपना नाम प्रेमघन रखते थे। सन् १९१२ के अंत में कलकत्ते में हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का तीसरा अधिवेशन हुआ था। उसके आप सभापति थे।

इनकी शैली में यह विशेषता थी कि वे जो कुछ लिखते उसे कई बार दुहराकर परिमार्जित और परिष्कृत करते। अनुप्रास की ओर इनका विशेष ध्यान रहता। साधारण रीति से किसी बात को कहना इन्हें पसंद न था। उपनाम प्रेमघन था और उसी के अनुसार "नगरी नीरद" नाम का पत्र भी निकला था जिसके प्रत्येक शीर्षक उस नाम के अनुकूल थे जैसे—संपादकीय-सम्मतिसमीर, प्रेरितकलापिकलरव, हास्यहरितांकुर, वृत्तांतबलकावलि, काव्यामृतवर्षा, विज्ञापनबीर- बहूटियाँ, नियमनिर्घोष।

इनकी भाषा दो प्रकार की मिलती है, एक संस्कृत-गर्भित दूसरी उर्दू मिश्रित। इनकी भाषा में स्वाभाविकता कम और बनावट अधिक रहती थी। यद्यपि इनका पहनावा और बनावट प्रायः नाटकीय रहता था, पर नाट्य-विद्या में वे अभिनय के नियमों से सर्वथा अनभिज्ञ थे। भारतसौभाग्य इसका एकमात्र उदाहरण है। यदि इसका अभिनय सारी रात किया जाय तो भी वह समाप्त नहीं हो सकता।

इनका देहांत १४ फरवरी सन् १९२३ को हुआ।

फुटकर कविताओं और लेखों के अतिरिक्त इनके निम्नलिखित ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं—

भारतसौभाग्य नाटक, प्रयागरामगमन नाटक, हार्दिक हर्षादर्श काव्य, भारतबधाई, आर्य्याभिनंदन, मंगलाशा, कलम की कारीगरी, शुभ सम्मिलन काव्य, आनंदअरुणोदय, युगलमंगलस्तोत्र, वर्षा-बिंदु-गान, वसंतमकरंदबिंदु, कजलीकादंबिनी, वारांगनारहस्य नाटक

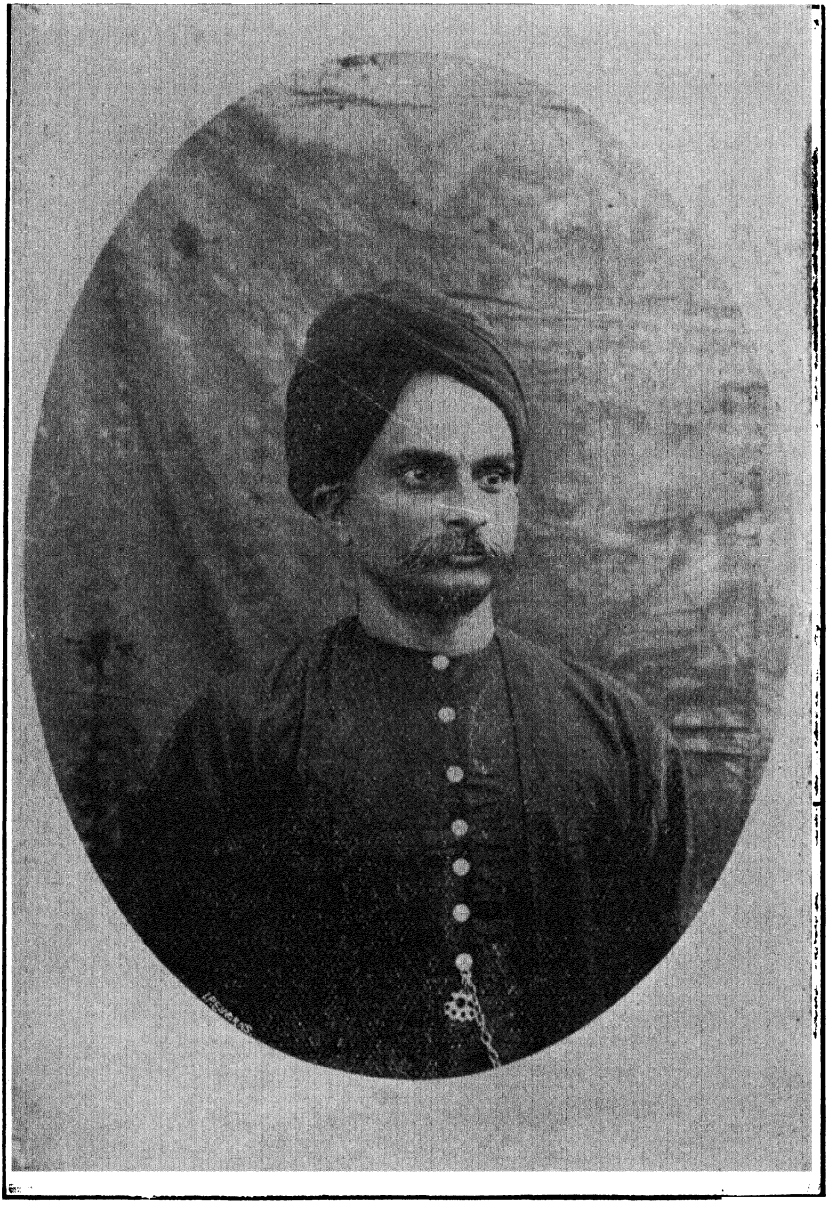

पंडित विनायकराव ।

(अपूर्ण), संगीतसुधासरोवर, पीयूषवर्षा, आनंदबधाई, पितरप्रलाप, कलिकालतर्पण, मन की मौज, युवराजाशिष, स्वभावविंदुसौंदर्य, शोकाश्रुविंदु, विधवाविपतिवर्षा, भारतभाग्योदय, कांताकामिनी, बुद्धिविलाप, आत्मोल्लास, दुर्दशादत्तावर। इनकी समस्त कृतियों का संग्रह हिंदी-साहित्य-सम्मेलन प्रकाशित कर रहा है।

(१६) पंडित विनायकराव

पंडित विनायकराव का जन्म संवत् १९१२ की पौषशुक्ला १० (सन् १८५५ ई०) को सागर जिले में हुआ था। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। बचपन ही में इनके पिता इन्हें छोड़कर स्वर्ग सिधारे थे। जन्म-स्थान में ही इनका विद्यारंभ हुआ। सागर के हाई स्कूल से इन्होंने एंट्रेंस पास किया। इसके पीछे सागर के हाई स्कूल के जबलपुर उठ आने पर ये भी उसके साथ वहीं चले आए और सन् १८७५ में ये एफ० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। इसके अनंतर बी० ए० पढ़ने के लिये इन्हें सरकार से १५) मासिक की छात्रवृत्ति मिली। उस समय मध्यप्रदेश में कहीं बी० ए० की पढ़ाई नहीं होती थी, उसके लिये लखनऊ जाना पड़ता था। कई कारणों से ये लखनऊ न जा सके और इनकी शिक्षा यहीं समाप्त हो गई।

सन् १८८६ के मई मास में ये मुरवाड़ा के मिडिल स्कूल में २५) मासिक पर प्रथम अध्यापक नियत हुए। कुछ दिनों पीछे ये सागर के हाई स्कूल में सहकारी अध्यापक होकर चले गए और तीन ही मास के अनंतर ५०) पर हेड मास्टर होकर फिर मुरवाड़ा लौट आए। कोई डेढ़ वर्ष वहाँ रहकर ६०) पर जबलपुर के नार्मल स्कूल में चले गए। कुछ समय पीछे १००) मासिक पर ये हुशंगाबाद हाई स्कूल के हेड मास्टर

हो गए। इनकी पढ़ाई का फल यहाँ तक अच्छा होता था कि इनके पढ़ाए प्रायः सभी छात्र पास हो जाया करते थे। इससे उस प्रान्त में पंडित जी की बहुत प्रसिद्धि हुई। एक बार चीफ कमिश्नर ने तार-द्वारा इन पर अपनी प्रसन्नता प्रकट की थी। कुछ काल उपरांत १५०) वेतन पर ये जबलपुर के नार्मल स्कूल के सुपरिंटेंडेंट नियत हुए, जहाँ ये पाँच वर्ष तक रहे। फिर ये नागपुर के ट्रेनिंग इंस्टीट्यूशन में बदल दिए गए, जहाँ इन्हें २२०) मासिक मिलते रहे। वहाँ इन्होंने कई बी० ए० पास लोगों को पढ़ाया और उन्हें पास कराया। इसके पीछे ट्रेनिंग इंस्टीट्यूशन नागपुर से उठकर जबलपुर आया और ये भी उसी के साथ जबलपुर आए। इस प्रकार ३४ वर्ष तक इन्होंने शिक्षा-विभाग में बड़ी योग्यता से काम किया और अच्छा नाम पाया। इनकी योग्यता का पता चीफ कमिश्नर की वार्षिक रिपोर्ट तथा अन्य अँगरेज अफसरों के दिए हुए सार्टिफिकेटों से मिलता है। मुरवाड़ा जिला स्कूल की हेड मास्टरी के समय इन्होंने वहाँ एक संस्कृत-पाठशाला खोली थी जो अभी तक चल रही है और भली भाँति अपना काम कर रही है।

पंडित जी हिंदी भाषा के बड़े प्रेमी थे। इन्होंने लगभग २० पुस्तकें लिखी हैं जिनमें से कई मध्यप्रदेश के स्कूलों में पढ़ाई जाती हैं। कई पुस्तकों के लिये शिक्षा-विभाग से इन्हें पारितोषिक भी मिला है। पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी पुस्तकों के लिये इन्हें १,०००) का पारितोषिक मिला था। इनकी कई पुस्तकों की दस-दस आवृत्तियाँ हो चुकी हैं। वैज्ञानिक कोष के संपादन के समय जब काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने मध्य-प्रदेश के शिक्षा-विभाग के इंस्पेक्टर-जनरल (जो आज-कल डाइरेक्टर कहलाते हैं) से एक प्रतिनिधि भेजने की प्रार्थना की थी तब उन्होंने पंडित जी को ही प्रतिनिधि बनाकर भेजा था। इस कार्य में इन्होंने

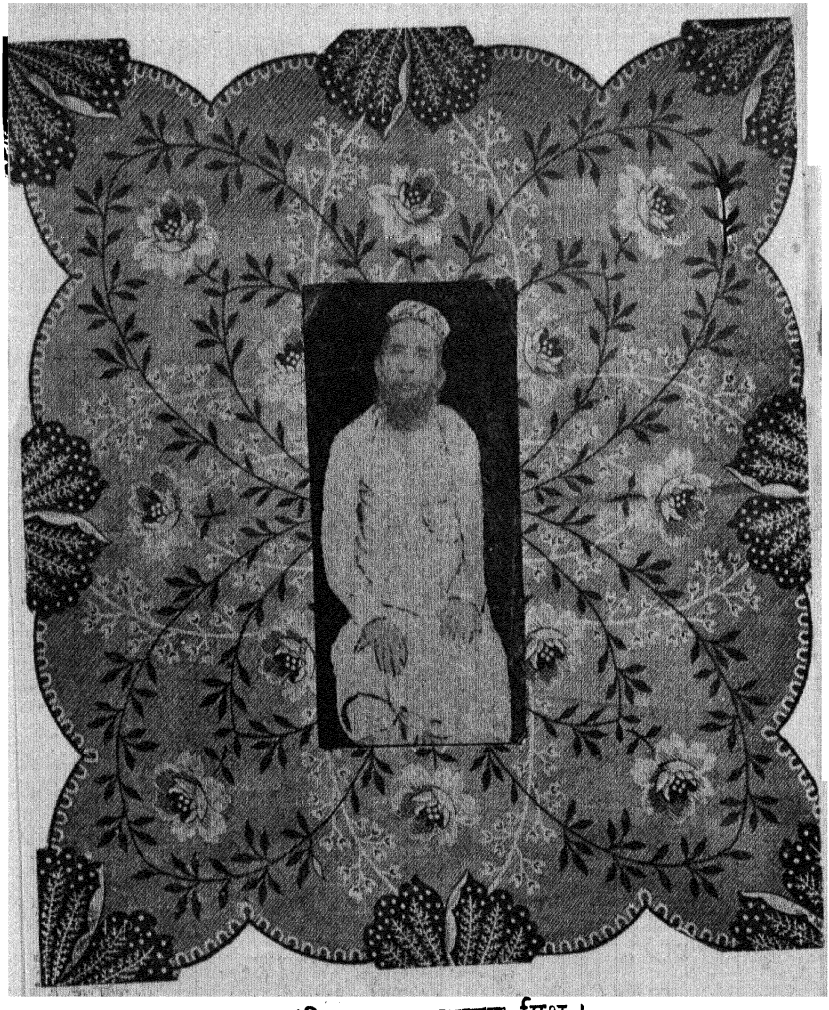

पंडित प्रतापनारायण मिश्र ।

अच्छी सहायता दी थी। उसी समय से नागरी-प्रचारिणी सभा के ये स्थायी सभासद् हो गए। जबलपुर के श्रीभानुकविसमाज ने २२ जनवरी सन् १९०४ को एक अधिवेशन करके इन्हें "नायक" कवि की उपाधि से सम्मानित किया था।

अँगरेजी तथा हिंदी के अतिरिक्त ये संस्कृत, उर्दू और मराठी भाषाएँ भी भली भाँति जानते थे। ये बहुत मिलनसार और विनोद-प्रिय थे। इनका अधिकांश समय पुस्तकें पढ़ने में ही बीतता था। नेत्रों के निर्बल हो जाने पर भी ये सदा साहित्य-सेवा में लगे रहते थे। इनका देहांत संवत् १९८१ की ज्येष्ठशुक्ला १० को हुआ।

इनकी सबसे महत्त्व की कृति तुलसीकृत रामायण की टीका है जो वैनायकी टीका के नाम से प्रसिद्ध है। इससे अच्छी टीका अब तक दूसरी नहीं निकली है। इन्होंने काव्यकुसुमाकर दो भागों में लिखा था जो अपने विषय का अच्छा ग्रंथ है।

(१७) पंडित प्रतापनारायण मिश्र

पंडित प्रतापनारायण मिश्र कात्यायन गोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण बैजेगाँव के मिश्र थे। यह बैजेगाँव अवध के जिले में उन्नाव से थोड़ी दूर पर है। पंडित प्रतापनारायण के पिता का नाम संकटाप्रसाद, पितामह का रामदयाल और प्रपितामह का रामसेवक था। इनके पिता संकटा-प्रसाद १४ वर्ष की आयु में कानपुर में आ बसे थे। वे एक अच्छे ज्योतिषी थे। इसलिये धीरे-धीरे उनकी आर्थिक अवस्था अच्छी होती गई और कुछ दिनों में उन्होंने रियासत भी पैदा कर ली।

पंडित प्रतापनारायण का जन्म आश्विन कृष्ण ९ संवत् १९१३ (सन् १८५६ ई०) में हुआ था। इनके पिता ने इन्हें अपनी तरह

ज्योतिर्विद् बनाना चाहा परंतु इनकी उस ओर रुचि न थी, इसलिये उन्होंने लाचार होकर इन्हें अँगरेजी मदरसे में पढ़ने बैठाया। पर थोड़े ही दिनों में इन्होंने वह मदरसा भी छोड़ दिया और पादरियों के एक मिशन स्कूल में भरती हुए। परंतु इनका पढ़ने-लिखने में मन नहीं लगता था। इसलिये अँगरेजी भाषा में कुछ थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त करके सन् १८७५ ई० के लगभग इन्होंने वह स्कूल भी छोड़ दिया। इसके कुछ दिनों पीछे इनके पिता का देहांत हो गया और उसी दिन से इनके विद्याध्ययन की भी इतिश्री हुई। अँगरेजी के साथ में इनकी दूसरी भाषा हिंदी थी, पर इन्होंने उर्दू में भी अच्छा अभ्यास कर लिया था। इसके साथ ही वे कुछ-कुछ संस्कृत और फारसी भी जानते थे।

पंडित प्रतापनारायण मिश्र के हृदय में काव्य का बीज उसी समय में जम चुका था जब कि ये छात्रावस्था में थे। उस समय बाबू हरिश्चंद्र का कवि-वचन-सुधा खूब जोर पर था। उसके गद्य-पद्य लेख बड़े ही प्रभावोत्पादक और मनोरंजक होते थे। पंडित प्रतापनारायण उसे बड़े प्रेम से पढ़ते थे। उसी समय कानपुर में लावनी की बड़ी चर्चा थी। प्रसिद्ध लावनीबाज बनारसीदास वहाँ महीनों रहते थे। कानपुर में उसी समय पंडित लालताप्रसाद त्रिवेदी उपनाम ललित एक अच्छे कवि हो गए हैं। अस्तु, पंडित प्रतापनारायण मिश्र को लावनी सुनने का चस्का लग गया। जहाँ लावनी का दंगल होता वहाँ ये अवश्य जाते और समय-समय पर "ललित-कवि" के पास भी आते-जाते। परिणाम यह हुआ कि भृंगी के कीट की तरह उक्त कवि महाशय और लावनीबाजों की आशु कविता सुनते-सुनते ये स्वयं एक अच्छे कवि हो गए। इन्होंने ललित कवि से छंदःशास्त्र के नियम भी पढ़े और उन्हीं को अपना गुरु मानकर कविता करने लगे।

और अपने मन के मौजी पुरुष थे। चिट्ठियों के उत्तर देने में आलसी थे। शरीर से प्रायः रोगी रहा करते थे। इन्हें नाट्य-कौशल से विशेष प्रेम था और ये स्वयं उसमें निपुण थे। इनके सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक विचार स्वतंत्र थे और ये कांग्रेस को अच्छा समझते थे। मिति आषाढ़ सुदि ४ संवत् १९५१ को इनकी मृत्यु हुई।

पंडित प्रतापनारायण मिश्र की विशेषता उनके हास्यविनोदपूर्ण और व्यंग्य लेखनप्रणाली में थी। उसमें वे चलते हुए दिहाती मुहाविरों का प्रयोग भी बड़ी मनोहरत से करते थे, पर उच्च कोटि के लेखों में उनकी भाषा बहुत कुछ संयत हो जाती थी। इनके अनुवाद किए हुए राजसिंह, इंदिरा, राधारानी और युगलांगुलीय उपन्यास माने जाते हैं, पर समें संदेह की मात्रा भी है। कुछ तत्कालीन लेखकों का मत था कि ये उनके अनुवाद किए हुए नहीं हैं, हाँ, उनके नाम से अवश्य छपे हैं। जो कुछ भी हो, पंडित प्रतापनारायण मिश्र भारतेंदु हरिश्चंद्र के सहयोगियों और अनुगामियों में थे और हिंदी के बड़े पक्षपाती और समर्थक थे। प्रायः रोग-ग्रस्त रहने के कारण थोड़ी ही अवस्था में इनका परलोकवास हुआ। ब्राह्मणपत्र केवल १० वर्ष तक चला। उसके पुनः प्रकाशन का उद्योग भी हुआ पर सफल न हो सका। इनकी कविता बड़ी चुटीली होती थी।

इनके ग्रंथ ये हैं—राजसिंह, इंदिरा, राधारानी, युगलांगुलीय, चरिताष्टक, पंचामृत, नीतिरत्नावली, कथामाला, संगीत शाकुंतल, वर्णपरिचय, सेनवंश और सूबे बंगाले का भूगोल, कलिकौतुक रूपक, कलिप्रभाव नाटक, हठी हम्मीर नाटक, गोसंकट नाटक, जुआरी-खुआरी

ठाकुर जगमोहनसिंह ।

प्रहसन, प्रेमपृष्ठावली, मन की लहर, शृंगारविलास, दंगल-खंड, लोकोक्तिशतक, तृप्यंताम्, ब्रैडला-स्वागत, भारत-दुर्दशा, शैव सर्वस्व, प्रतापसंग्रह, रसखानशतक, मानस-विनोद, शिशु-विज्ञान,-स्वास्थ्य-रक्षा।

(१८) ठाकुर जगमोहनसिंह

ठाकुर जगमोहनसिंह के पूर्वजों का संबंध जयपुर राजघराने से था। ये लोग इक्ष्वाकुवंशीय जोगावत कछवाहे राजपूत हैं। आमेर के राजा कुंतलदेव के मँझले भाई आनलसिंह के पाँच पुत्र हुए। इनके पुत्र बालोजी गाजी के थाण में रहते थे। बालोजी के पुत्र खंडेराय के आठ पुत्र हुए जिनमें ज्येष्ठ पुत्र भीमसिंह आपस की अनबन के कारण घर छोड़ पन्ना में आ बसे। इनके पुत्र वेणीसिंह काल पाकर पन्ना के राजमंत्री नियत हुए। एक युद्ध में ये मारे गए। तब पन्नानरेश ने इनके पुत्र गर्जसिंह को "राजधरबहादुर" की पदवी दी और मैहर का इलाक़ा पुरस्कार में रहने के लिये दिया। राजकाज में फँसे रहने के कारण इन्होंने अपने मँझले भाई ठाकुर दुर्जनसिंह को मैहर रियासत का सब प्रबंध सौंप दिया। बड़े भाई के मरने पर ठाकुर दुर्जनसिंह रियासत के मालिक हुए। इनके दो पुत्र थे। एक विष्णुसिंह और दूसरे प्रयागदाससिंह। भाइयों में अनबन होने पर राज्य का बँटवारा हो गया। विष्णुसिंह मैहर में रहे और प्रयागदाससिंह ने दक्षिण भाग में विजयराघवगढ़ बसा-कर उसे अपनी राजधानी नियत किया। इनके पुत्र ठाकुर सरयूसिंहजी हुए। जब पिता मरे तब इनकी अवस्था पाँच बरस की थी। अतएव राज्य का प्रबंध गवर्मेंट ने अपने हाथ में ले लिया। इसके १२ वर्ष पीछे सन् ५७ का बलवा हुआ। इस समय ठाकुर सरयूसिंह १७ वर्ष के

थे । कुछ लोगों के बहकाने में आकर ये ब्रिटिश गवर्मेंट के विरुद्ध खड़े हो गए । परिणाम यह हुआ कि राज्य जब्त हो गया। इस समय इनके पुत्र ठाकुर जगमोहनसिंह की अवस्था केवल छः महीने की थी। इनका जन्म संवत् १९१४ श्रावणशुक्ला १४ को हुआ था। सन् १८६६ में ठाकुर जगमोहनसिंह बनारस में पढ़ने के लिये भेजे गए । यहाँ इन्होंने अँगरेजी, संस्कृत, हिंदी, बँगला, उर्दू आदि भाषाएँ सीखीं और उनमें अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली । १६ वर्ष की अवस्था में इन्होंने कालिदास के कई छोटे-छोटे काव्यों का हिंदी छंदोबद्ध अनुवाद किया। काशी में इनसे भारतेंदु हरिश्चंद्र जी से बहुत स्नेह हो गया । इनका समय यहाँ पढ़ने और सत्संग से बीतता था। यहाँ से पढ़कर सन् १८८० ई० में ये धमतरी (रायगढ़ म० प्र०) में तहसीलदार नियत हुए और दो ही वर्ष में अपनी योग्यता के कारण एक्स्ट्रा असिस्टेंट कमिश्नर हो गए। विद्या का इन्हें पूरा व्यसन था। सरकारी काम करने के अनंतर जो समय बचता उसे ये लिखने-पढ़ने में बिताते। इसी अवस्था में श्यामास्वप्न आदि ग्रंथ लिखे गए। इसी सेवा-वृत्ति में इन्हें प्रमेह रोग हो गया। डाक्टरों ने जलवा ु बदलने का परामर्श दिया। निदान छः महीने तक ये भिन्न-भिन्न स्थानों में घूमते रहे। रोग कुछ कम हुआ पर जड़ से न गया। परिभ्रमण के अनंतर घर लौटने पर कूचबिहार स्टेट काउंसिल के ये मंत्री नियत हुए। महाराज कूचबिहार काशी में इनके सहपाठी थे। दो वर्ष तक इन्होंने यहाँ बड़ी योग्यता से कार्य्य किया, पर रोग ने यहाँ भी पीछा न छोड़ा । अंत में हारकर नौकरी छोड़ अपने देश को लौटना पड़ा । अनेक उद्योग किए गए पर रोग अच्छा न हुआ । सन् १८९९ के मार्च महीने में एक पुत्र और एक कन्या छोड़ आप परधामगामी हुए ।

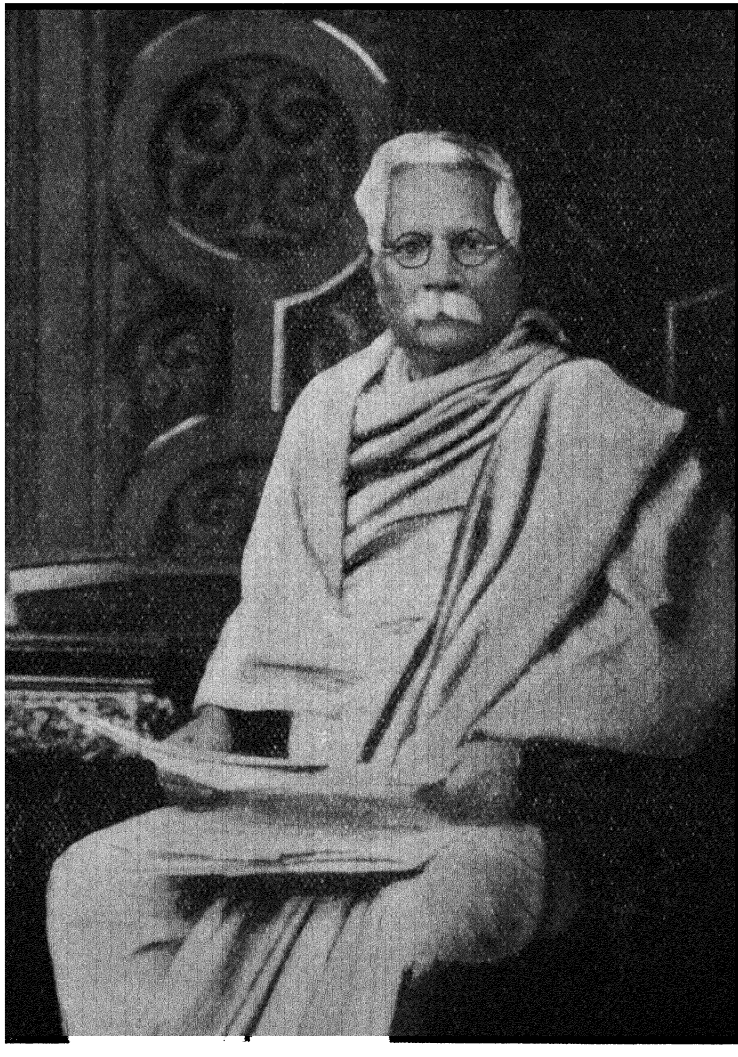

लाला सीताराम ।

इनके बनाए ग्रंथ ये हैं—श्यामास्वप्न, श्यामासरोजनी, प्रेमसंपत्ति-लता, मेघदूत, ऋतुसंहार, कुमारसम्भव, प्रेमहजारा, सज्जनाष्टक, प्रलय, ज्ञानप्रदीपिका, सांख्य (कपिल) सूत्रों की टीका, वेदांतसूत्रों (वादरायण) पर टिप्पणी, हंसदूत, बानीवार्डविलाप। इनमें से कुछ ग्रंथ अमुद्रित और कुछ अपूर्ण हैं।

ठाकुर साहब की संस्कृत और भाषा-योग्यता बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। जिन्होंने इनका श्यामास्वप्न या मेघदूत पढ़ा होगा उन्हें इसका परिचय मिल गया होगा। इनका स्नेह अनेक अच्छे-अच्छे राजा-महाराजों से था। इनका स्वभाव उदार, गुणग्राही और मिलनसार था। ये प्रकृति के सौंदर्य पर मोहित थे। विन्ध्याटवी के रम्य प्रदेशों का इन्होंने भ्रमण किया था और उसकी छाप उन पर अमिट रूप से पड़ गई थी। श्यामास्वप्न में जो प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन हैं वे प्राकृतिक सौंदर्य में इनकी तल्लीनता के साक्षात् प्रमाण हैं।

(१९) रायबहादुर लाला सीताराम

लाला सीताराम जाति के श्रीवास्तव (दूसरे) कायस्थ थे और इनके वंश के लोग पहले जौनपुर में रहते थे। पर इनके पिता प्रसिद्ध बाबा रघुनाथदास के शिष्य हो गए थे अतएव वे जौनपुर छोड़ अयोध्या में आ बसे। यहीं २० जनवरी सन् १८५८ को इनका जन्म हुआ। इनका विद्यारंभ बाबा रघुनाथदास ही ने कराया था, पर इसके पीछे एक मौलवी साहब उर्दू-फारसी पढ़ाने के लिये नियत हुए। सौभाग्यवश उक्त अध्यापक कुछ हिंदी भी जानते थे अतएव लाला सीताराम ने उर्दू के साथ कुछ हिंदी भी पढ़ी, पर इनके पिता वैष्णव थे और बाबा रघुनाथदास के शिष्य थे अतएव उन्हें धर्म-संबंधी भाषा-ग्रंथों से बड़ा

अनुराग था। लाला सीताराम बालपन में अपने पिता के ग्रंथों को प्रायः पढ़ा करते। इसी से उन्हें हिंदी का ज्ञान और उससे प्रेम उत्पन्न हो गया।

इसके कुछ काल अनंतर इन्होंने अँगरेजी पढ़ना आरंभ किया और सब परीक्षाएँ बड़ी सफलता से पास कीं। सन् १८८९ में बी० ए० की परीक्षा में इनका नंबर सबसे ऊपर रहा। एफ० ए० की परीक्षा में इन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया और बी० ए० की परीक्षा के लिये विज्ञान पढ़ा। पीछे से सन् १८९० में इन्होंने वकालत की परीक्षा भी पास की।

पहले-पहल ये अवध अखबार के संपादक हुए और दो ही महीने पीछे उसे छोड़कर बनारस-कालेज के स्कूल-विभाग में तीसरे अध्यापक हुए। तीन ही महीने पीछे (अगस्त १८७९ ई० में) ये हेड मास्टर बनाकर सीतापुर भेजे गए। यहाँ दो वर्ष काम करके फैजाबाद में सायंस-मास्टर होकर आए। एक वर्ष यहाँ काम करने पर फिर बनारस में सेकेंड मास्टर होकर आए। यहाँ ये ५ वर्ष रहे और उस काल में आपको संस्कृत-अध्ययन का अच्छा अवसर मिला। फिर तो कई स्थानों में हेड मास्टर रहकर ये असिस्टेंट इंस्पेक्टर हुए। इसके अनंतर सन् १८९५ में ये डिप्टी कलेक्टर नियत किए गए। इसी पद से इन्होंने सन् १९०९ में पेंशन ली।

हिंदी में अच्छी योग्यता होने के कारण और बहुत काल तक काशी में अच्छे-अच्छे पंडितों का सहवास रहने से ये हिंदी की अच्छी सेवा कर सके हैं। इनका हिंदी का पहला ग्रंथ मेघदूत का अनुवाद है जो सन् १८८३ में प्रकाशित हुआ। इसके अनंतर इस प्रकार इन्होंने ग्रंथ प्रकाशित किए—

संस्करण भी प्रकाशित किया था। लाला साहब की भाषा सीधी, पर पुष्ट और प्रांजल थी। इन्होंने संस्कृत नाटकों का अनुवाद करके हिंदी भांडार की पूर्ति का स्तुत्य उद्योग किया था। इन्होंने विशेषकर दोहा, चौपाई और घनाक्षरी छंदों का प्रयोग किया। कलकत्ता विश्वविद्यालय के लिये इन्होंने कई भागों में हिंदी-साहित्य के चुने चुने अंशों का संग्रह किया था। इनकी सेवाओं के उपलक्ष में गवर्मेंट ने इन्हें राय-बहादुर की पदवी दी थी। इनका देहांत संवत् १९९३ (२ जनवरी सन् १९३७) में ७९ वर्ष की अवस्था में हुआ।

(२०) पंडित राधाचरण गोस्वामी

पंडित राधाचरण गोस्वामी जी गौड़ ब्राह्मण थे। इनका जन्म फाल्गुन कृष्ण ५ संवत् १९१५ तारीख २५ फरवरी सन् १८५९ ई० को हुआ था। इनके पिता का नाम श्री गोस्वामी लल्लू जी था। वे वृंदावन में श्रीराधारमण के मंदिर के गोस्वामी-संप्रदाय के आचार्य्य थे।

संवत् १९२१ में गोस्वामी राधाचरण जी का कर्णवेधसंस्कार हुआ और उसी समय से इनका विद्याध्ययन आरंभ हुआ। इनकी माता स्वयं पढ़ी-लिखी थीं। अस्तु, जो कुछ ये गुरु जी से पढ़ते थे उसे वे स्वयं सुन लिया करती थीं परंतु संवत् १९२३ में जब इनका देहांत हो गया तब ये अपने पिता के समीप रहने लगे। कार्यवशात् जहाँ-जहाँ इनके पिता को बाहर जाना पड़ता था वहाँ-वहाँ ये भी उनके साथ जाते, पर इससे इनके पढ़ने-लिखने में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती थी। संवत् १९२७ में इन्होंने नियमित रूप से संस्कृत का अध्ययन आरंभ किया। पहले इन्होंने व्याकरण और कुछ काव्य पढ़ा और फिर श्रीमद्भागवत और अपने गोस्वामी-संप्रदाय के धर्म-ग्रंथ पढ़े।

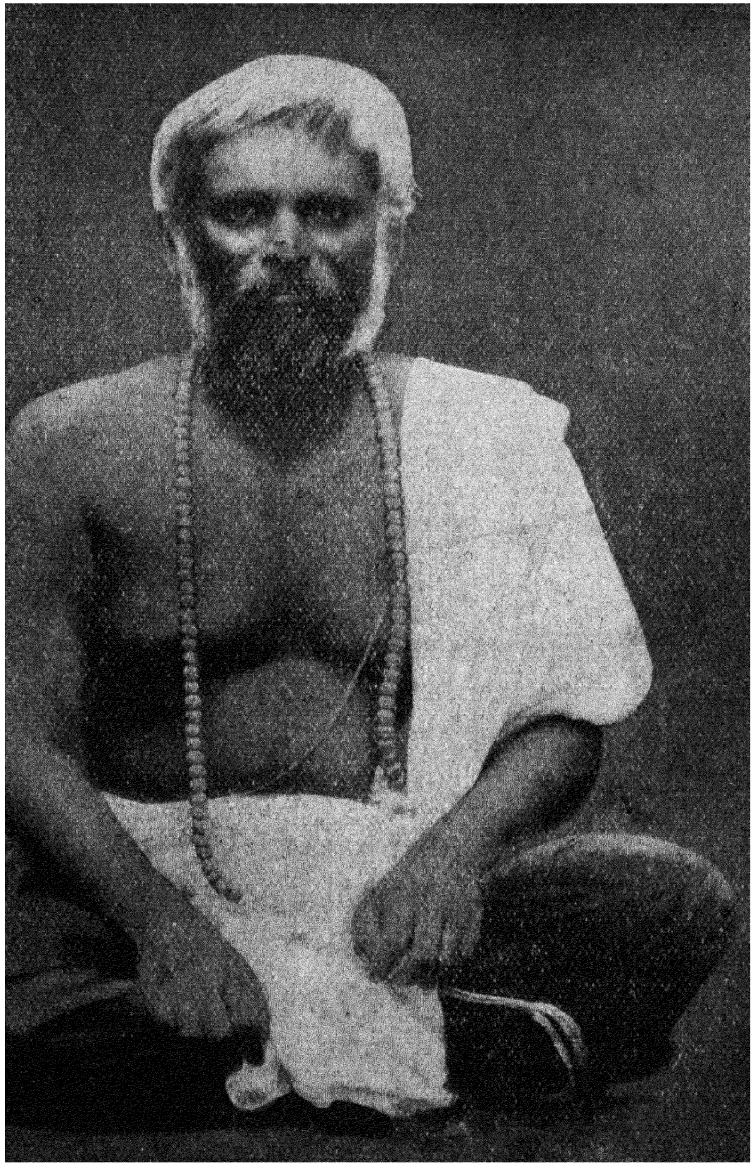

पंडित राधाचरण गोस्वामी ।

संवत् १९३० में जब आप फर्रुखाबाद में पंडित उमादत्त जी के पास कौमुदी पढ़ते थे तब यहाँ के गवर्मेंट स्कूल में शहर के संस्कृत-विद्यार्थियों की परीक्षा ली गई। उसमें ये भी सम्मिलित थे। अतएव वहाँ अँगरेजी-शिक्षा का प्रभाव और परीक्षा का ढंग देखकर इन्हें अँगरेजी पढ़ने का चाव हुआ। इन्होंने फर्रुखाबाद के जिला-स्कूल में अपना नाम लिखा लिया। यह समाचार पाकर इनकी शिष्य-मंडली में बड़ा हलचल मचा। लोगों ने चारों ओर से डाँट बताना आरंभ किया कि यदि म्लेच्छ भाषा पढ़ोगे तो हम तुम्हें छोड़ देंगे। तब तो जीविका जाते देखकर इन्हें विवश हो अँगरेजी पढ़ना छोड़ देना पड़ा। उसी समय काशी से हरिश्चंद्र मेगजीन प्रकाशित होने लगा था। उसे पढ़कर इनकी देश-सेवा की ओर प्रवृत्ति हुई।

संवत् ३२ में इन्होंने अपने मित्र श्रीगोस्वामी मधुसूदन जी से मिलकर "कविकुल कौमुदी" नाम की सभा स्थापित की जिसका मूल उद्देश्य हिंदी और संस्कृत की पुष्टि करना था। इस सभा के प्रथम ही अधिवेशन के तीन दिन पहले नकी स्त्री का देहांत हो गया। परंतु शोकग्रस्त अवस्था में भी ये सभा में सम्मिलित हुए। उस समय भी परम वैष्णव लोगों ने सभा को एक अनोखी बात समझकर विरोध किया, परंतु इन्होंन किसी से प्रतिवाद न करके कार्य्य करते जाना ही अपना ध्येय माना।

उसी वर्ष इनका दूसरा विवाह हो गया। इन्होंने अपनी इस दूसरी पत्नी को स्वयं शिक्षा देकर एक सुयोग्य विदुषी स्त्री बनाया। सभा सोसाइटियों के समागम से इन्होंने भिन्न-भिन्न धर्मों के ग्रंथ पढ़े जिससे इनकी विशेष ज्ञान-वृद्धि हुई। परंतु इनकी ब्राह्म-धर्म पर कुछ विशेष रुचि हुई और ये "हिंदुबांधव" में ब्राह्म-धर्म के पक्ष में लेख भी लिखने लगे,

परंतु बाबू हरिश्चंद्र जी के गुप्तरूप से कटाक्ष करने पर इन्होंने ब्राह्म-धर्म से अपना संबंध तोड़ दिया। फिर इन्होंने आर्यसमाज के ग्रंथ पढ़े और स्वामी दयानंद जी से साक्षात् प्रश्नोत्तर किए। स्वामी जी पर आपकी विशेष श्रद्धा थी।

संवत् १९३४ से इन्होंने अपनी जीविका भी सँभाली और कलम भी। संवत् १९४० तक के प्रायः सब हिंदी के पत्रों में आपके लेख पाए जाते हैं। सब लेख गूढ़ और प्रभावजनक हैं। सब लेखों की संख्या कोई दो सौ होगी पर कोई-कोई लेख तो इतने बड़े हैं कि जिनकी एक अलग पुस्तक बन सकती है। सन् १८८३ में इन्होंने "भारतेंदु" मासिक पत्र निकाला पर सहायता के अभाव से इसे बंद कर देना पड़ा। सन् १८८४ ई० में प्रयाग में हिंदी-पत्र-संपादकों की एक सभा हुई थी, उसके आप मंत्री थे।

सन् १८८६ में इन्हें कांग्रेस का प्रतिनिधि होकर कलकत्ता जाना पड़ा। वहाँ से आकर इन्होंने "विदेश-यात्रा-विचार" और "विधवा-विवाह-विवरण" दो ग्रंथ समाज-सुधार पर लिखे। सन् १८८५ में ये वृंदावन के म्युनिसिपल कमिश्नर चुने गए। इस पद पर इन्होंने बड़ी स्वतंत्रता, योग्यता और सावधानी से कार्य किया। सन् १८९३ में इन्होंने मथुरा की डिविजनल कांग्रेस कमेटी के मंत्री का कार्य किया।

इसके अनंतर आप वृंदावन के आनरेरी मजिस्ट्रेट और म्युनिसिपल कमिश्नर रहे। यद्यपि आप पक्के सनातन-धर्मावलंबी थे परंतु किसी मत से द्वेष नहीं रखते थे बरन वर्तमान समाज-सुधार के पक्षपाती थे।

सन् १८८३ में जब कि शिक्षा-कमिशन बैठा था तब इन्होंने २१,००० मनुष्यों के हस्ताक्षर हिंदी के पक्ष में करवाए थे।

बाबू रामकृष्ण वर्म्मा।

समाचार-पत्रों के तो आप इतने प्रेमी थे कि छोटे से लगाकर बड़े तक जितने हिंदी के समाचार-पत्र जीवनकाल में निकले या निकल रहे थे सबकी पूरी फाइलें अपने पास रखते थे।

इनके लिखे ग्रंथों में सरोजिनी नाटक, विधवाविपत्ति, विरजा, जावित्री, यमलोक की यात्रा, स्वर्गयात्रा, मृण्मयी, कल्पलता बालविधवा आदि हैं।

इनका देहांत संवत् १९५७ में हुआ। आप भारतेंदुमंडली के उज्ज्वल रत्न थे और हिंदी की सेवा में रत रहते थे। पहले इनके हृदय में समाजसुधार के जो भाव उठे थे वे समय पाकर और स्थिति की प्रतिकूलता के कारण इन्हें दबाने या छोड़ देने पड़े।

(२१) साहित्याचार्य्य पंडित अंबिकादत्त व्यास

पंडित अंबिकादत्त के पूर्वज राजपूताने के रहनेवाले थे। परंतु इनके पितामह पंडित राजाराम जी काशी में आ बसे थे। राजाराम जी के दो पुत्र हुए। दुर्गादत्त जी और देवदत्त जी। दुर्गादत्त जी प्रसिद्ध कवि हो गए हैं। हमारे व्यास जी इन्हीं दुर्गादत्त जी के ज्येष्ठ पुत्र थे।

व्यास जी का जन्म संवत् १९१५ चैत्रशुक्ला अष्टमी को हुआ था। पाँच वर्ष की अवस्था होने पर इन्हें विद्याध्ययन आरंभ कराया गया और खेल-कूद में शब्दरूपावली और अमरकोष का अभ्यास कराया जाने लगा। घर की स्त्रियाँ सब पढ़ी-लिखी थीं इसलिये इनकी शिक्षा उत्तम रीति से होने लगी। आठ-नौ वर्ष की अवस्था होने पर इन्हें शतरंज और सितार का चस्का लगा और उसी समय कविता का भी व्यसन आरंभ हुआ।

दस वर्ष की अवस्था होने पर व्यास जी का यज्ञोपवीत हुआ और उसी समय से आप गोस्वामी श्रीकृष्ण चैतन्यदेव जी के यहाँ भाषा-काव्य पढ़ने लगे । उस समय गोस्वामी जी एक प्रसिद्ध कवि थे और उनके यहाँ अच्छे अच्छे कवि एकत्र हुआ करते थे । ऐसा सत्संग पाकर कुशाग्रबुद्धि व्यास जी बहुत ही शीघ्र काव्य-कुशल हो गए । इन्हें एक वर्ष में ही कविता के समस्त प्रस्तारों का अच्छा ज्ञान हो गया और ये भरी सभा में समस्या-पूर्त्ति करने लगे।

धीरे-धीरे व्यास जी का बाबू हरिश्चंद्र जी से परिचय हो गया और ये उनके यहाँ आने-जाने लगे और इनकी कविता भी कवि-वचन-सुधा में प्रकाशित होने लगी। इसी बाल्यावस्था में इन्होंने महाराज काशिराज के यहाँ की धर्मसभा से भी पारितोषिक पाया। जिस समय व्यास जी की अवस्था केवल १२ वर्ष की थी उस समय काशी जी में एक तैलंग देश के अष्टावधानी कवि आए, उन्होंने अपना बुद्धि-कौशल दिखलाकर यहाँ के सब पंडितों को चकित कर दिया, परंतु हमारे व्यास जी ने भी तत्काल शतावधान रचकर उक्त पंडित को भी चकित किया। उन्होंने अत्यंत प्रसन्न होकर इन्हें 'सुकवि' की पदवी प्रदान की, जिसे यहाँ की सब विद्वन्मंडली ने भी स्वीकार कर लिया।

१३ वाँ वर्ष आरंभ होते ही इन्होंने संस्कृत का अध्ययन आरंभ किया। एक तरफ़ तो ये व्याकरण, सांख्य, साहित्य, वेदांत आदि गहन विषयों का अध्ययन करते और दूसरी ओर गान-वाद्य-संबंधी कलाओं का अभ्यास करते जाते थे । संवत् १९३३ में इन्होंने काशी-गवर्मेंट संस्कृत-कालेज में नाम लिखवाया और एक ही वर्ष के परिश्रम में वहाँ से उत्तमा परीक्षा पास की। संवत् १९३७ में इन्होंने आचार्य परीक्षा पास की

और दूसरे वर्ष साहित्य-परीक्षा पास करके सरकार से साहित्याचार्य्य की पदवी प्राप्त की।

दुर्दैववश उसी साल इनके पिता ने परलोकवास किया इससे घर में कलह होने लगी जिससे दुखित होकर इन्होंने कलकत्ते की यात्रा की और वहाँ अपने विद्या-बल से खूब नाम पैदा किया। परंतु तीन ही महीने के अनंतर वहाँ से चले आए और पीयूषप्रवाह प्रकाशित करने लगे जो कि इनके यावज्जीवन चलता रहा। अभ्यास करते करते इनकी धारणा यहाँ तक बढ़ गई थी कि ये २४ मिनट में सौ श्लोक रच सकते थे। इसी से काशी की ब्रह्मामृतवर्षिणी सभा ने इन्हें एक चाँदी के पदक सहित "घटिकाशतक" की उपाधि प्रदान की थी।

यह सब कुछ था परंतु इनकी आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं थी। इसलिये संवत् १९४० में इन्होंने मधुबनी जाकर वहाँ के स्कूल में ३५) रु० मासिक की नौकरी कर ली। यहाँ भी इन्होंने अनेक व्याख्यान दिए और सभाएँ स्थापित कीं। यहाँ सबसे बड़ा काम जो व्यास जी ने किया वह "संस्कृत-संजीवनी-समाज" का स्थापित करना है। इस समाज के द्वारा बिहार की अनिश्चित शिक्षा-प्रणाली का ऐसा सुधार हुआ कि उससे अब सैकड़ों छात्र प्रतिवर्ष संस्कृत-शिक्षा पाते और उपाधि लाभ करते हैं।

संवत् १९४२ में मधुबनी से इस्तीफ़ा देकर ये बाँकीपुर में चले आए। इसके दूसरे वर्ष मुजफ्फरपुर के स्कूल के हेड पंडित बनाकर वहाँ भेजे गए। संवत् १९४४ में इनकी बदली भागलपुर के जिला-स्कूल को हुई। इसी समय इन्होंने संस्कृत में 'सामवत नाटक' बनाकर राजा साहब दरभंगा को समर्पण किया और 'शिवराज-विजय' नामक एक उपन्यास भी संस्कृत में लिखा। संवत् १९४८ में इनकी

बिहारीविहार की हस्तलिखित पुस्तक चोरी चली गई। उसे उन्होंने पुनः पूर्ण किया। काँकरौली-नरेश ने आपको 'भारत-रत्न' की पदवी प्रदान की थी और अयोध्या-नरेश ने एक स्वर्ण-पदक-सहित 'शतावधान' की पदवी दी थी।

छोटे-बड़े सभी इनका सम्मान करते थे। संवत् १९३५-३६ में इन्हें गवर्मेंट-पटना-कालेज में प्रोफेसर का पद मिला परंतु ये शरीर से अस्वस्थ रहते थे, मानों दैव ने उस पद का भोग इनके भाग्य में लिखा ही न था। व्यास जी बँगला, महाराष्ट्री, गुजराती, अँगरेजी आदि भाषाएँ भी जानते थे। इन्होंने हिंदी, संस्कृत में कुल ७८ ग्रंथ लिखे जिनमें से बहुत-से अधूरे ही रह गए और अनेक अब लों अप्रकाशित हैं।

उन्नीसवीं नवंबर सन् १९०० को व्यास जी का परलोकवास काशी में हुआ।

इनकी भाषा शिथिल होती थी। इनने उनने का प्रयोग ये बहुलता से करते थे पर आशुकवि और अच्छे वक्ता थे। इन्होंने सनातन-धर्म के पक्षसमर्थन और आर्यसमाज के खंडन में घूम-घूमकर व्याख्यान दिए थे। विभक्ति विषय पर इनके लेख सामयिक पत्रों में निकले थे। ललिता नाटिका, गो-संकट नाटक, गद्य-काव्य-मीमांसा, मरहठा नाटक तथा विहारीविहार इनके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। विहारीविहार में इन्होंने विहारी के टीकाकारों का वृत्तांत बड़ी खोज के साथ लिखा है।

(२२) पंडित नाथूराम शंकर शर्म्मा

पंडित नाथूराम शंकर शर्म्मा का जन्म संवत् १९१६ चैत्रशुक्ला ५ शुक्रवार को हुआ था। इनके पिता का नाम पंडित रूपराम शर्म्मा था। ये भारद्वाज गोत्रीय गौड़ ब्राह्मण थे और इनका निवासस्थान

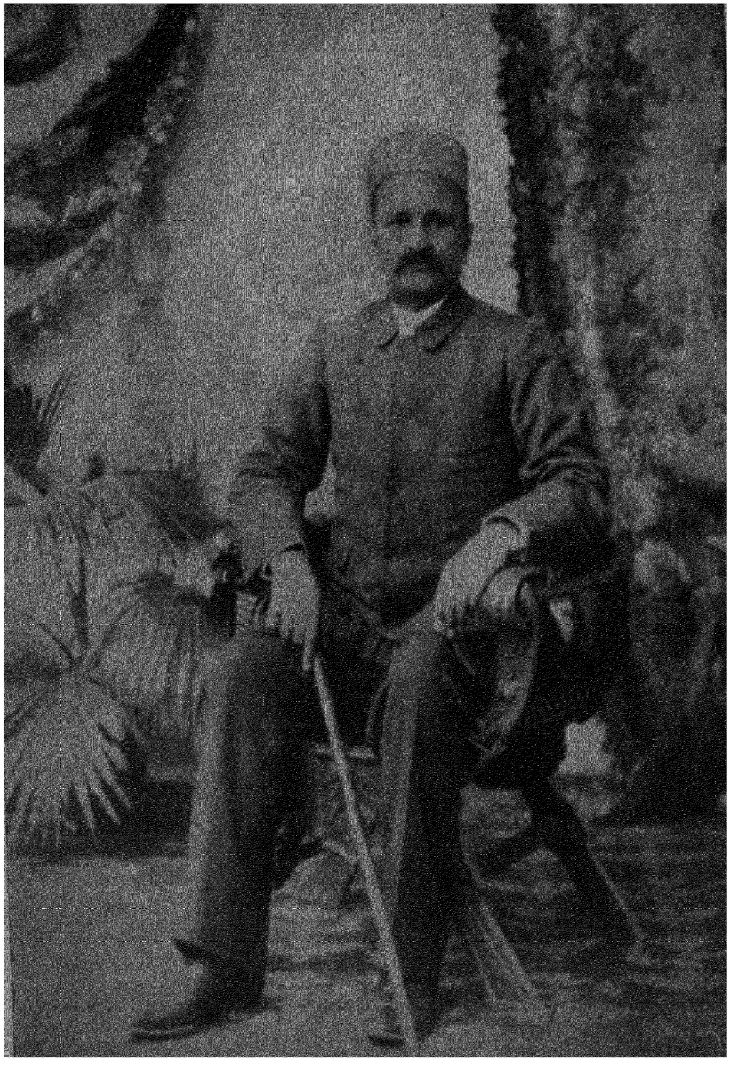

पंडित श्रीधर पाठक।

हरदुआगंज, जिला अलीगढ़ था। ये अभी एक वर्ष के थे जब इनकी माता का देहांत हो गया, अतएव इनका पालन-पोषण नानी और बुआ ने किया। पंडित नाथूराम जी साधारण अँगरेजी और उर्दू जानते थे तथा हिंदी के अच्छे कवियों में इनकी गणना थी। इनकी कविताएँ प्रायः सरस्वती मासिक पत्रिका में प्रकाशित होतीं, जिन्हें खड़ी बोली के प्रेमी बड़े आदर की दृष्टि से पढ़ते। सरस्वती में अब तक जितने कवियों की कविताएँ निकली हैं उनमें से पाँच प्रसिद्ध कवियों की कविताओ का संग्रह "कविताकलाप" नाम से प्रकाशित किया गया है। इस कवि-पंचक में शर्म्मा जी भी सम्मिलित हैं। संवत् १९३७ में पंडित नाथूराम जी कानपुर में नहर-विभाग में ड्राफ्ट्समैन के पद पर नियुक्त हुए थे। यहाँ इन्होंने कोई पाँच-छः वर्ष तक काम किया। अंत में इस्तीफा देकर वहाँ से ये अलग हो गए और तब से अंत तक वैद्यक-द्वारा अपनी जीविका-निर्वाह करते रहे। शर्म्मा जी खड़ी बोली में अच्छी कविता करते थे और वे हिंदी के पत्रों तथा पत्रिकाओं में प्रकाशित होती थीं। अनेक बेर इन्हें अनेक स्थानों से समस्यापूर्ति के लिये चाँदी और सोने के पदक तथा पगड़ियाँ, घड़ियाँ, पुस्तकें और प्रशंसापत्र मिले थे। ज्वालापुर के महाविद्यालय से भी इन्हें एक स्वर्ण-पदक मिला था। इन्होंने उर्दू में भी कविता की है। शर्म्मा जी वक्तृता देने में भी बड़े निपुण थे। खड़ी बोली कविता के आरंभिक दिनों में इन्होंने उसका पक्ष बड़ी लगन के साथ समर्थन किया था और नये नये छंदों में कविता करके यह सिद्ध कर दिया कि खड़ी बोली में अच्छी और सरस कविता हो सकती है। मिलिंद पाद, शंकर छंद, राजगीत इन्हीं के निकाले हुए हैं। घनाक्षरी छंद में खड़ी बोली की कविता का आपने ही सूत्रपात किया था। संवत् १९८९ में आपका

पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र।

परलोकवास हुआ। शर्म्मा जी का आधुनिक युग के कवियों में प्रमुख स्थान था।

शर्म्मा जी आर्य्यसमाज के सिद्धांतों के दृढ़ अनुयायी थे। स्वभाव इनका बहुत सरल था। अतएव इनकी अधिकतर कविताएँ समाज संबंधी हैं। इन्होंने आर्य्यसमाज के जलसों में गाने के लिए प्रभावशाली भजन बनाए थे। यद्यपि ये आर्य्यसमाजी थे, पर खान-पान-संबंधी उच्छृंखलता और अनधिकारचेष्टा को बुरा समझते थे।

(२३) पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र

काश्मीर की राजधानी जंबू से बीस कोस पर जामवंत की बेटी जांबवती के गर्भ से उत्पन्न श्रीकृष्ण जी के पुत्र शांब का बसाया हुआ साँवाँ नगर है। यही साँवाँ नगर पंडित दुर्गाप्रसाद की जन्मभूमि है। आप सूर्य्यवंश के आदि-पुरोहित वशिष्ठ ऋषि-कुलोत्पन्न सारस्वत ब्राह्मण थे। इनकी वंश-परम्परा उपाधि "राजोपाध्याय" है परंतु पंजाब में ब्राह्मण-मात्र को "मिश्र" कहते हैं इसी से इनके नाम के आगे यह उपाधि लगी हुई है। इनके पिता का नाम पंडित घसीटाराम मिश्र था।

पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र का जन्म आश्विन संवत् १९१६ की शारदीय नव-दुर्गाओं में नवमी बुधवार को हुआ था। इसी से आपका नाम दुर्गाप्रसाद रखा गया। आपके पितामह संस्कृत के अच्छे विद्वान् और कर्मकांड में परम प्रवीण पंडित थे। वे सपरिवार जगदीश के दर्शन करने गए। वहाँ से लौटकर आते समय कलकत्ता-निवासी पंजाबी खत्रियों ने इनसे कलकत्ते में ही प्रवास करने का अनुरोध किया इसलिये ये वहीं रहने लगे। इनके तीन पुत्र थे और

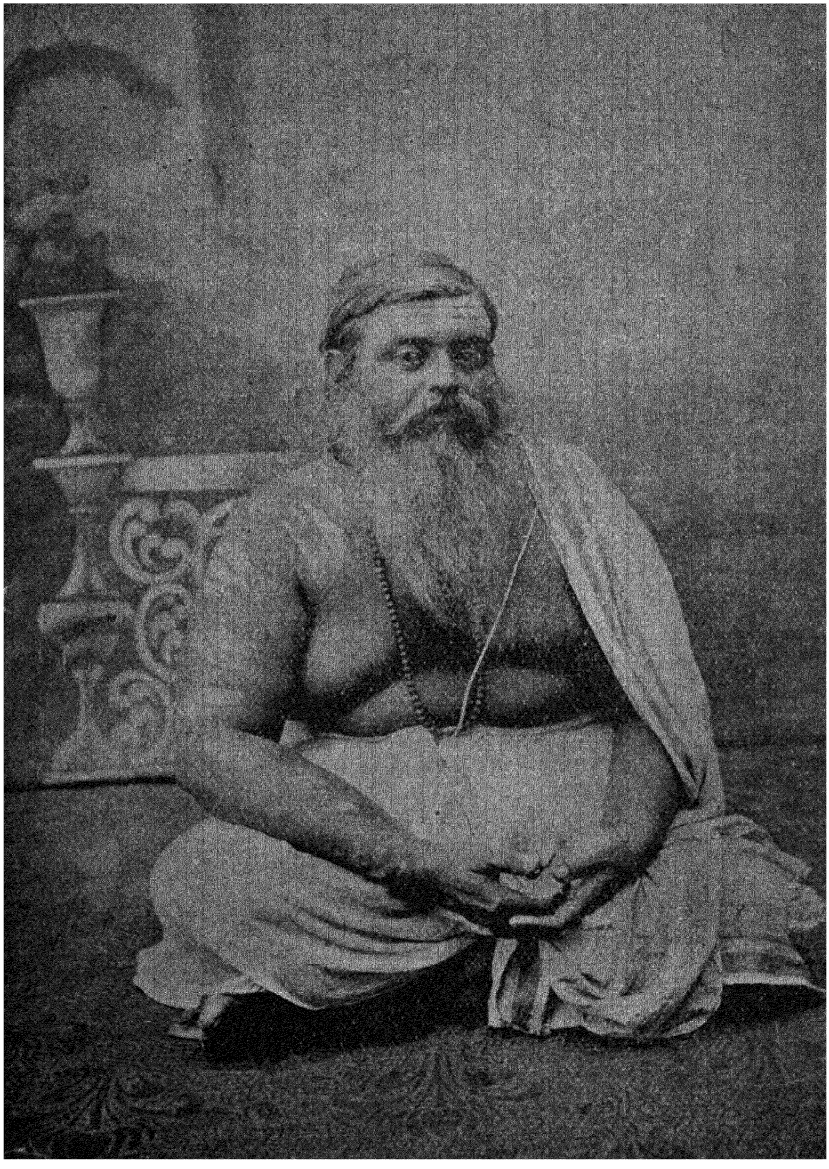

पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र ।

वे तीनों सौदागरों की बड़ी-बड़ी कोठियों में दलाली का काम करने लगे।

पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र ने बाल्यावस्था में डोगरी, हिंदी और बँगला भाषाओं का घर पर ही अभ्यास किया और फिर काशी में आकर संस्कृत पढ़ी। इसके पीछे कलकत्ते चले गए और नार्मल स्कूल में अँगरेजी का अभ्यास करने लगे। अँगरेजी में कुछ पढ़ने-लिखने का ज्ञान प्राप्त करके इन्होंने स्कूल छोड़ दिया और अपने बडों के प्रेरणानुसार दलाली का काम करने लगे। इस काम को इन्होंने कुशलता से किया और अपनी आय भी अच्छी बढ़ाई, पर चित्त की प्रवृत्ति इस ओर न होने से इन्होंने इस काम को शीघ्र ही छोड़ दिया। छात्रावस्था में पंडित दुर्गाप्रसाद जी बँगला के समाचार-पत्र बड़े प्रेम से पढ़ा करते थे और उस समय उनके चित्त में यह विचार उठा करता था कि यदि ऐसे ही पत्र हिंदी में निकला करें तो अच्छा हो। सौभाग्य-वश उसी समय काशी से कविवचनसुधा नाम का पत्र प्रकाशित होने लगा था और ये उसके संवाददाता बने। इसके अनंतर पटने से बिहारबंधु का जन्म हुआ। इसके भी ये सहायक रहे। अब दलाली का काम छोड़कर ता० १७ मई सन् १८७८ को आपने हिंदी के प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र "भारतमित्र" को प्रकाशित करना आरंभ किया, परंतु ग्राहकों के समय पर चंदा न देने से आर्थिक त्रुटि के कारण इस पत्र का भार "भारतमित्र सभा" को दे दिया।

इसके कुछ दिनों पीछे स्वर्गीय पंडित सदानंद मिश्र के अनुरोध से इन्होंने "सारसुधानिधि" नाम का एक पत्र निकाला। एक वर्ष चलकर जब यह भी बन्द हो गया तब सन् १८८० में केवल अपने बाहु-बल के आश्रय पर "उचितवक्ता" पत्र प्रकाशित करना आरंभ किया।

उचितवक्ता ने हिंदी सृष्टि में एक नया कर्तब कर दिखलाया। इस पत्र में गूढ़ राजनीतिक विषयों पर पंडित जी के हँसी-दिल्लगी-भरे लेख सर्वप्रिय और प्रभावजनक होते थे।

जंबू-नरेश महाराज रणवीरसिंह पंडित जी पर विशेष प्रेम रखते थे। उन्होंने जंबू से "जंबूप्रकाश" पत्र चलाने की इच्छा से पंडित जी को बुलाया था परंतु उनकी अस्वस्थता के कारण यह न हो सका। तब ये फिर कलकत्ते चले आए और उचितवक्ता को चलाते रहे। महाराज रणवीरसिंह का स्वर्गवास हो जाने के कारण वर्तमान जंबू-नरेश ने इन्हें बुलाया और शिक्षा-विभाग के सर्व्वोच्च पद पर नियत किया परंतु थोड़े ही दिनों के अनंतर राज्यप्रबंध में कुछ गड़बड़ देखकर इन्होंने वहाँ रहना उचित न समझा और इस्तीफा देकर ये वहाँ से चले आए। इन्होंने स्वर्गीय बाबू भूदेव मुखोपाध्याय के अनुरोध से बिहार-प्रांत के लिए हिंदी में कुछ पाठ्य-पुस्तकें भी लिखी थीं जो बहुत दिनों तक बिहार के स्कूलों में प्रचलित रहीं।

जंबू-राज्य से पीड़ित एक स्वदेशी पुरुष के कहने से इन्होंने उचित-वक्ता में जंबू-राज्य के रहस्यों को प्रकाशित करना आरंभ किया परंतु इससे जब जंबू की शासन-प्रणाली पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा तब इन्होंने देशवासियों के एक दल के सहित उस समय हिंदुस्तान में आए हुए पार्ल्यामेंट के मेंबर मिस्टर ब्रैडला से मुलाकात की और अपने देशवासियों का दुःख सुनाया। उन्होंने विलायत जाकर इनकी बड़ी प्रशंसा की और पार्ल्यामेंट में जंबू-राज्य की बातें पेश करके उनका सुधार करवाया। अंत में इन्होंने "मारवाड़ी-बंधु" नाम का साप्ताहिक पत्र निकाला था पर वह भी कुछ दिन चलकर बंद हो गया।

पंडित गोबिंदनारायण मिश्र।

अमृत-बाजार पत्रिका के प्रवर्तक संपादक राजनीतिकुशल बाबू शिशिरकुमार घोष को पंडित दुर्गाप्रसाद अपना राजनीतिक गुरु मानते थे। पंडित जी ने हिंदी में छोटी बड़ी कुल २०-२२ पुस्तकें लिखी हैं। आप बड़े साधारण स्वभाव के मिलनसार और हँसमुख मनुष्य थे और बंगाल में हिंदी-पत्रों के जन्मदाता और प्रचारकों में थे। पंडित जी में एक विचित्र शक्ति यह थी कि जिससे मिलते उसे मोहकर अपने वश में कर लेते थे। आपका देहांत सन् १९१० के अंत में कलकत्ते में हुआ।

इन्होंने सरस्वती नाम का एक नाटक बँगला के स्वर्णलता के आधार पर लिखा था, जिसमें एक प्रकार से इन्होंने अपने गार्हस्थ्य-चरित्र का चित्रण किया है। मिश्र जी हिंदी के उत्तम लेखकों में थे। इनकी भाषा बड़ी पुष्ट और जोरदार होती थी। वक्तृता देने में भी आप निपुण थे। इनका स्वभाव बड़ा हँसमुख था। बड़े कौशल से ये हँसी के नाम रख लेते थे, जैसे पंडित अंबिकादत्त व्यास का नाम द्रंमिका दस्त बांस हत्याचार्य और बाबू देवकीनंदन खत्री का नाम देवर की ननद रखा था। अँगरेजी शब्दों के रूप पर हिंदी में शब्द रचना करने में ये बड़े निपुण थे। प्रासपेक्टस शब्द का रूप इन्होंने प्रतिष्ठापत्र रखा था और पैंडाल का पिंडालय। अस्तु, ये हिंदी के रत्नों में थे और अपने उद्योग से इन्होंने हिंदी का सिर ऊँचा किया था।

(२४) पंडित गोविंदनारायण मिश्र

संवत् १८१३ में लाहौर के पंडित गणपति मिश्र घर से जगदीश-यात्रा के लिये निकले थे। उस समय कलकत्ता था ही नहीं। लोग बर्दवान होकर जगदीशपुरी जाते थे। बर्दवान पहुँचने पर वहाँ के राजा तेजचंद्र ने पंडित जी की ज्योतिष-विद्या से प्रसन्न होकर उन्हें स्थायी

वृत्तियाँ दीं और वहीं रहने के लिये बहुत आग्रह किया, परन्तु आपने इसे अस्वीकार किया। संवत् १८५७ में उनके पुत्र पंडित लक्ष्मी-नारायण बर्दवान गए। आप वहाँ दस बरस रहकर काशी चले आए। यहाँ उन्होंने अपना दूसरा विवाह किया। चार बरस पीछे १८७१ में आप फिर बर्दवान चले गए।

इनके तीन पुत्र हुए। उनमें से सबसे छोटे पंडित गंगानारायण जी हमारे चरितनायक पंडित गोविंदनारायण जी के पिता थे। पंडित गंगानारायण जी प्रसिद्ध बंगाली कृष्णदास पाल के सहपाठी थे। शिक्षा समाप्त होने पर वे अँगरेजी आफिसों की दलाली करने लगे। रानीगंज प्रांत की कोयले की खानों का पता पहले-पहल उनके बड़े भाई पंडित जयनारायण जी ने ही लगाया था। पंडित गंगानारायण का विवाह कलकत्ते में ही हुआ था।

संवत् १९१६ की कार्त्तिकशुक्ला ३ को पंडित गंगानारायण के घर पंडित गोविंदनारायण जी का जन्म हुआ। साढ़े चार वर्ष की अवस्था में ही आपको अक्षरारंभ कराया गया। बाल्यावस्था में इनकी स्मरण-शक्ति बहुत तीव्र थी। पंडित गंगानारायण जी की रुचि संस्कृत की ओर अधिक थी, इसी लिये उन्होंने अपने पुत्र की संस्कृत-शिक्षा के लिये काशी से महाराष्ट्र पंडित बुलवाये थे। उन्हीं पंडितों से आपने अमरकोष, मुहूर्त्तचिन्तामणि, वेद और अष्टाध्यायी के कुछ सूत्र पढ़े। आप न तो कभी घर से अकेले बाहर जाते थे और न लड़कों के साथ व्यर्थ खेलना पसंद करते थे। पाँच ही वर्ष की अवस्था में आपका विवाह हो गया और उसी वर्ष आप संस्कृत-कालेज में भर्ती किए गए। उन दिनों किरातार्जुनीय, रघुवंश और शकुंतला की पढ़ाई तीसरे दर्जे में ही हो जाती थी। अपने अध्यापक पंडित राममय तर्कालंकार की शिक्षा

के कारण आप उसी समय संस्कृत में अच्छी कविता करने लग गए थे। उन्होंने एक बेर कहा भी था कि ईश्वर न करे तुम किसी रोग से पीड़ित हो जाओ। दूसरे दर्जे में पहुँचते ही आप नेत्ररोग से पीड़ित हो गए और डाक्टरों की सम्मति से पढ़ना छोड़ बैठे। कोई दो सप्ताह बहुत कष्ट पाने के अनंतर आपकी एक आँख तो अच्छी होगई, लेकिन दूसरी का विकार बना रहा।

पंडित गोविंदनारायण जी ने हिंदी और संस्कृत-साहित्य के साथ ही साथ प्राकृत व्याकरण का भी अच्छा अध्ययन किया था। सन् १८७३ में आपके फुफेरे भाई पंडित सदानंद मिश्र ने सारसुधानिधि नामक एक साप्ताहिक पत्र निकाला; आप उसके साझीदार और सहकारी संपादक हुए। एक वर्ष पीछे आपने उसका साझा छोड़ दिया, केवल लेखादि से उसकी सहायता करते रहे। कभी-कभी आपको उसका पूरा संपादन भी करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त उचितवक्ता और धर्मदिवाकर में भी आप लेखादि लिखा करते थे। आप अपने लेख प्रायः बिना नाम के छपवाते थे, इसी लिये आपकी विशेष प्रसिद्धि न हुई।

उन्हीं दिनों भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र तथा पंडित बालकृष्ण भट्ट जी से इनका परिचय हुआ। कोई चालीस वर्ष पूर्व आपने शिक्षा-सोपान नामक एक बहुत उपयोगी पुस्तक की रचना की थी। उसके दो भाग प्रकाशित और शेष पाँच अलिखित और अप्रकाशित रहे। संवत् १९६१ में आपने "सारस्वतसर्वस्व" नामक एक गवेषणापूर्ण पुस्तक लिखी थी, जिसके कारण सारस्वत-समाज में बड़ी खलबली मची और आपको बहुत कुछ आपत्ति सहनी पड़ी। आपने कलकत्ते में धर्मसभा स्थापित कराई थी, जिसके द्वारा पिंजरापोल और एक संस्कृत-पाठशाला की स्थापना हुई। आप बहुत अच्छे वक्ता भी थे। एलवर्ट बिल के समय

आपके व्याख्यान पर हजारों आदमी मुग्ध हो गए थे। एक बेर एक सभा में सभापति ताहिरपुर के राजा शशिशेखरेश्वर राय ने बिना पहले से कहे-सुने एक प्रस्ताव के अनुमोदन के लिये आपका नाम लिया। आपने भी उसी समय खड़े होकर अपनी वक्तृत्व-शक्ति का बहुत अच्छा परिचय दिया। उस समय बड़े-बड़े विद्वान् बंगालियों ने आपकी बहुत प्रशंसा की थी।

भारतधर्ममहामंडल के स्वामी ज्ञानानंद आपको उपाधि देना चाहते थे, पर आपने उसे स्वीकार नहीं किया।

संस्कृत, प्राकृत, हिंदी, अँगरेजी और बँगला के अतिरिक्त आप पंजाबी और गुजराती भी जानते थे, तथा मराठी पुस्तकों का भाव भी समझ लेते थे। जिन लोगों ने आपके "विभक्तिविचार" और "प्राकृतविचार" शीर्षक लेख पढ़े हैं, वे आपकी योग्यता से भली भाँति परिचित हैं। नेत्ररोग से पीड़ित होने पर भी आप सदा पुस्तकें पढ़ते रहते।

प्रयाग के द्वितीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का सभापति बनाकर लोगों ने आपका अच्छा सम्मान किया था।

शिक्षा-सोपान के अतिरिक्त इनके लिखे ग्रंथ ये हैं—कवि और चित्रकार (अपूर्ण), प्राकृतविचार, सारस्वत-सर्वस्व, विभक्ति-विचार, आत्माराम की टेंटें (अपूर्ण)।

कवि और चित्रकार तथा साहित्य-सम्मेलन के अभिभाषण में आपने कादंबरी की शैली का अनुकरण करने का सफल उद्योग किया है। आपके विभक्ति-विचार ने एक प्रबल आंदोलन खड़ा कर दिया। कुछ लोग विभक्तियों को मिलाकर लिखने के पक्षपाती हुए और कुछ उनको अलग लिखने के। बंबई और कलकत्ते में प्रथम पक्ष के लोग

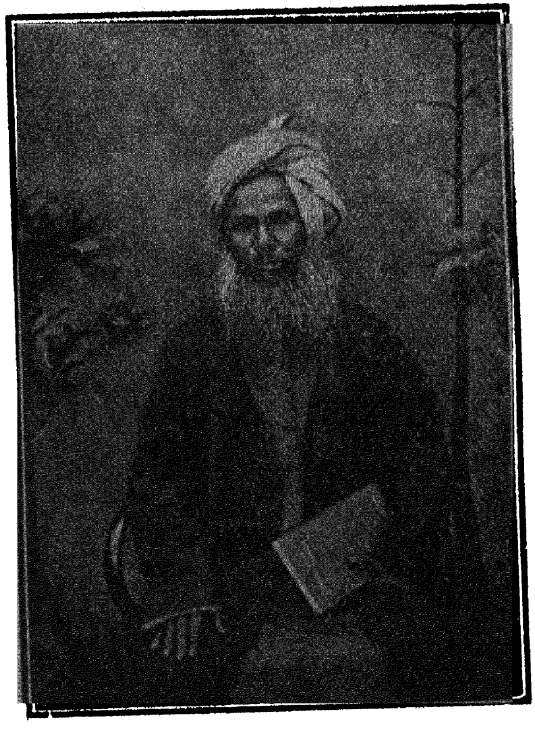

बाबू शिवनंदनसहाय ।

अधिक हैं। संयुक्तप्रांत, मध्यप्रदेश, पंजाब, राजपूताना आदि में उसके अलग लिखने की प्रथा ही प्रचलित है। पंडित महावीर-प्रसाद द्विवेदी ने भाषा की "अनस्थिरता" का प्रयोग किया था। इस पर लाला बालमुकुंद गुप्त ने बड़ा आंदोलन मचाया और द्विवेदी जी की कड़ी समालोचना की। पंडित गोविंदनारायण मिश्र ने 'आत्माराम की टेंटें' लेखावली में द्विवेदी जी का समर्थन और गुप्त जी के तर्क का खंडन किया था। इस पक्ष-समर्थन के लिए द्विवेदी जी मिश्र जी के बहुत अनुगृहीत हुए और कई पत्रों में उन्होंने इसका उल्लेख किया। जब व्याकरण के संशोधन का आयोजन काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने किया तब पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी उसमें पधारे थे। उस समय पंडित गोविंदनारायण मिश्र भी काशी में थे। निमंत्रण देने और अनेक आग्रह करने पर भी वे सभा में न पधारे। इस पर द्विवेदी जी ने व्यंगरूप में कहा कि हम तो आज उनके प्राकृत के ज्ञान की बानगी देखना चाहते थे।

मिश्र जी का देहांत संवत् १९८० की अनंत चतुर्दशी (२३ सितंबर, १९२३) को हुआ।

(२५) बाबू रामकृष्ण वर्मा

सन् १८४० के लगभग हीरालाल खत्री पंजाब से पैदल चलकर काशी को आए। यहाँ चमरिया गली में ठहर कर इन्होंने परचून की दूकान खोली और लगभग पचास वर्ष की अवस्था में आजमगढ़ में अपना विवाह किया। इनके राधाकृष्ण, जयकृष्ण और रामकृष्ण तीन पुत्र हुए।

बाबू रामकृष्ण वर्मा का जन्म सन् १८५९ संवत् १९१६ आश्विन कृष्ण ७ को हुआ था। जिस समय इनके पिता का ७० वर्ष की अवस्था

में देहांत हुआ उस समय इनके बड़े भाई राधाकृष्ण की १६ वर्ष की अवस्था थी और रामकृष्ण केवल एक वर्ष एक महीने के थे। इनकी माता ने अपने तीनों पुत्रों का बड़े कष्ट से पालन-पोषण किया क्योंकि उस समय इनकी आर्थिक अवस्था बहुत ही हीन थी।

कुछ वय प्राप्त होने पर इनकी माता ने इन्हें पढ़ने को बैठाया। जब इन्होंने गुरु के यहाँ हिंदी पढना-लिखना सीख लिया तब ये जयनारायण-कालेज में अँगरेजी पढ़ने के लिए बैठाए गए। यहाँ भी इन्होंने खूब मन लगाकर पढ़ा। बाइबिल की परीक्षा में तो ये सदा प्रथम रहते थे। दूसरी भाषा इनकी संस्कृत थी। इन्होंने संस्कृत में भी अच्छी योग्यता प्राप्त की। उक्त स्कूल से एंट्रेंस पास कर लेने पर इन्होंने क्वींस कालेज में नाम लिखाया और वहाँ बी० ए० की परीक्षा तक पढ़ा, पर उसमें उत्तीर्ण न हो सके। कालेज में पढ़ते समय ये घर पर पंडित हरिभट्ट मानेकर जी से संस्कृत भी पढ़ते थे। इनकी बाइबिल पर अधिक रुचि देखकर उन्होंने इनको ईसाई-धर्म से हटाकर सनातन-धर्म का मार्ग बतलाया। ये प्रायः कहा करते थे कि मुझे ईसाई होने से बचाने में पंडित जी ने मेरे ऊपर बड़ी कृपा की थी।

छात्रावस्था में बाबू रामकृष्ण ट्यूशनों से अपनी जीविका-निर्वाह करते थे। पढ़ना छोड़ने के अनंतर इन्होंने हरिश्चंद्र स्कूल में नौकरी कर ली पर कुछ दिन पीछे वह भी छोड़ दी और किताबों की एक छोटी-सी दूकान कर ली। बाबू हरिश्चंद्र जी की तथा गोपालमंदिर के अध्यक्ष लालजी महाराज की इन पर विशेष कृपा थी क्योंकि ये बड़े कुशाग्र-बुद्धि और हिंदी भाषा के स्वभाव से ही एक अच्छे कवि थे। इनकी किताबों की दूकान अच्छी चली। सन् १८८४ में कलकत्ते

जाकर इन्होंने एक प्रेस खरीदा। इस प्रेस में पहले इन्होंने ईसाई-मत-खंडन नाम की एक पुस्तक छापी। उसकी खूब बिक्री हुई और जल्दी ही इनका छापाखाना चल निकला। इसी वर्ष मार्च मास से इन्होंने "भारतजीवन" नाम का पत्र प्रकाशित करना आरंभ किया जो उनकी मृत्यु के उपरांत बंद हो गया। इनके इस प्रेस का और पत्र का नाम बाबू हरिश्चंद्र जी ने स्वयं रक्खा था। इस प्रेस से हिंदी की अच्छी अच्छी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं।

बाबू रामकृष्ण वर्मा को शतरंज खेलने का बड़ा शौक था और उसमें ये बड़े प्रवीण भी थे। इन्होंने पंडित अंबिकादत्त व्यास की सहायता से कचौरी गली में एक 'चेस क्लब' स्थापित किया था। सन् १८८१ ई० में इन्होंने ताश कौतुकपचीसी नाम की एक पुस्तक लिखी थी और उसे हरिप्रकाश प्रेस में छपवाया था। इसकी बड़ी बिक्री हुई और लोगों ने इसे बहुत पसंद किया।

वैसे तो बाबू रामकृष्ण जी ने हिंदी-गद्य में अथवा पद्य में बहुत-सी पुस्तकों की रचना की है परंतु इनका बहुत बड़ा और अंतिम परिश्रम कथासरित्सागर का भाषानुवाद है। इसे इन्होंने केवल दस भागों तक अनुवाद किया था। फिर अधिक अस्वस्थता के कारण आगे ये इस काम को उत्साह-पूर्वक न कर सके।

इनके अनुवादित ग्रंथ ये हैं—कृष्णकुमारी नाटक, पद्मावती नाटक, वीर नारी, अकबर उपन्यास, अमलावृत्तांतमाला, कथासरित्सागर, कांस्टेबुलवृत्तांतमाला, ठगवृत्तांतमाला, पुलिसवृत्तांतमाला, भूतों का मकान, स्वर्णबाई उपन्यास, संसारदर्पण, बलवीरपचासा, विरहा, ईसाईमतखंडन, चित्तौरचातकी।

दो-तीन वर्ष से इनकी तबीअत बहुत खराब रहती थी। सन् १९०५ में ये बहुत बीमार हो गए थे पर अच्छे हो गए। फिर १९०६ में इन्हें जलोदर-रोग हुआ और उसी से ता० २५ दिसंबर, सन् १९०६ के संध्या को इनका स्वर्गवास हो गया। इनकी संतति एक विधवा कन्या है।

बाबू रामकृष्ण ने अपने परिश्रम और अध्यवसाय से अच्छी उन्नति की और नाम पैदा किया। अपने बाहुबल से मनुष्य क्या कर सकता है इसके ये आदर्श थे। ये शुद्ध परिपुष्ट और परिमार्जित हिंदी लिखने के पक्षपाती थे। अपने भारतजीवन प्रेस द्वारा उन्होंने बहुत-से प्राचीन ग्रंथों का उद्धार किया।

(२६) पंडित श्रीधर पाठक

पंडित श्रीधर पाठक सारस्वत ब्राह्मण थे। इनके पूर्व-पुरुष कोई ११०० वर्ष हुए कि पंजाब से आकर जोंधरी ग्राम में, जो आगरे जिले के फीरोजाबाद परगने में है, बसे थे और कौटुम्बिक जनश्रुति के अनुसार एक विशाल जमींदारी उनके वहाँ बसने का हेतु था। पाठक जी के वृद्ध प्रपितामह श्री कुशलेश जी हिंदी के अच्छे कवि थे और पितामह पंडित धरणीधर शास्त्री धुरंधर नैयायिक थे। पिता पंडित लीलाधर जी यद्यपि एक साधारण पंडित थे परंतु सच्चरित्रता, भगवद्भक्ति और पवित्रता में अद्वितीय थे। इनके निधन पर पाठक जी ने आराध्य-शोकांजलि नामक संस्कृत-निबंध पितृभक्ति और कारुणिकता-उद्रेक में लिखा था।

पाठक जी का जन्म माघकृष्ण चतुर्दशी, संवत् १९१६ (ता० ११ जनवरी, सन् १८६० ई०) को उक्त ग्राम में हुआ। प्रारंभ में इन्हें

संस्कृत पढ़ाई गई और दस-ग्यारह वर्ष की अवस्था में अपनी तीव्र बुद्धि से उस भाषा में इन्होंने इतनी योग्यता प्राप्त कर ली कि संस्कृत बोलने और लिखने लगे। परंतु कई कारणों से उस भाषा में विशेष उन्नति नहीं कर सके। १२ वर्ष की अवस्था में तो पढ़ना ही छूट गया, केवल खेल-कूद रह गया।

इस अवस्था में इन्हें आप ही आप चित्र खींचने और मिट्टी की सुन्दर मूर्तियाँ बनाने तथा प्राकृतिक शोभा की विविध वस्तुओं के संग्रह करने में अभिरुचि उत्पन्न हुई और इसी व्यवसाय में ये तत्पर रहे। १४ वर्ष की अवस्था में फिर पढ़ना आरंभ किया। पहले तो कुछ फारसी पढ़ी और सन् १८७५ ई० में तहसीली स्कूल से हिंदी की प्रवेशिका परीक्षा पास की। इस परीक्षा में प्रांत भर में इनका नंबर पहला रहा। सन् १८७९ ई० में आगरा कालेज से अँगरेजी मिडिल की परीक्षा पास की और इसमें भी सब उत्तीर्ण परीक्षितों में प्रथम पद प्राप्त किया। इसके एक ही वर्ष पीछे सन् १८८० ई० में इन्होंने एंट्रेंस परीक्षा पहली श्रेणी में पास की।

उक्त परीक्षा पास करने के छः महीने के अनंतर सन् १८८१ में आप कलकत्ते चले गए और वहाँ ६०) रु० मासिक पर सेंसस कमिश्नर के स्थायी दफ्तर में नौकर हुए। इसी नौकरी में इन्हें शिमला जाकर हिमालय का उदग्र वैभव देखने का अवसर प्राप्त हुआ। वहाँ से लौटने पर कुछ दिन के अनंतर इलाहाबाद में लाट साहब के दफ़्तर में ३०) मासिक पर नियुक्त हुए। इस दफ़्तर के साथ पाठक जी को कई बेर नैनीताल जाने का सौभाग्य हुआ। सन् १८९८ ई० में जब कि इनका वेतन २००) मासिक था इनकी आगरे को बदली हुई और वहाँ से सन् १९०१ ई० में ३००) मासिक वेतन पर इरीगेशन

कमिशन के सुपरिंटेंडेंट नियुक्त हुए। कमिशन के अंत (सन् १९०३) तक ये उसी के साथ रहे। तदनंतर एक वर्ष पर्यंत भारत गवर्मेंट के दफ्तर में डिप्टी सुपरिंटेंडेंट और सुपरिंटेंडेंट रहे। फिर उस पद को त्याग तीन मास की छुट्टी लेकर काश्मीर की सैर को पधारे। वहाँ से लौट आने पर "कश्मीरसुखमा" नामक सुललित काव्य रचा। पाठक जी सरकारी काम बड़े परिश्रम और सावधानी से करते थे और उत्तम अँगरेजी लिखने के लिए प्रख्यात हैं। सन् १९९८-९९ की प्रांतीय इरीगेशन रिपोर्ट में आपकी प्रशंसा छपी है। काश्मीर से लौटने पर ये युक्त-प्रदेश के लाट साहब के दफ्तर में ३००) मासिक पर सुपरिंटेंडेंट हुए और पेंशन लेने तक वहीं काम करते रहे।

पंडित श्रीधर पाठक हिंदी-भाषा के एक अच्छे कवि थे। आप व्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में एक समान कविता रचते थे। परंतु खड़ी बोली में आपकी कविता आदर्श रूप होती थी। आप उसके पक्के समर्थक और सरल, सरस, प्रसाद-गुण-विशिष्ट स्वभाव सुन्दर उक्ति के प्रदर्शक थे। स विषय में आप अद्वितीय थे।

इन्होंने स्कूल में पढ़ते समय सबसे पहले अपनी जन्मभूमि जोंधरी ग्राम की प्रशंसा में एक कविता रची थी परंतु वह प्रकाशित नहीं की गई बरन रचना के पश्चात् शीघ्र ही नष्ट कर दी गई। उसके अनंतर जब जो मौज में आया लिखा। आपकी स्फुट कविताओं का संग्रह "मनो-विनोद" नाम से पुस्तकाकार तीन भागों में प्रकाशित हो गया है और हिंदी के सब सहृदय प्रेमियों के बड़े प्रेम और आदर की वस्तु है। कारण यह कि पाठक जी के पद्य-मात्र में एक ऐसी स्थायी मनोहरता है कि बार बार पढ़कर भी फिर पढ़ने को जी करता है। गोल्डस्मिथ के तीन ग्रंथों का पद्यानुवाद आपने "एकांतवास

योगी", "ऊजड़ ग्राम" और "श्रांतपथिक" नाम से प्रकाशित किया है। इन तीनों ग्रंथों का बड़ा प्रचार और सम्मान है। इनमें से श्रांतपथिक खड़ी बोली में अँगरेजी-पद्य की एक पंक्ति का हिंदी की एक पंक्ति में अनुवाद है। आप प्राकृतिक दृश्यों का अच्छा चित्र खींचते थे।

पेंशन लेने के अनंतर आप प्रयाग के लूकरगंज महल्ले में पद्मकोट नाम का बँगला बनवाकर रहते थे। आपका देहांत सन् १९२८ में हुआ। आप पिछले दिनों में दमे के रोग से पीड़ित रहते थे।

आपके बनाए ये ग्रंथ हैं—आराध्यशोकांजलि, श्री गोखलेप्रशस्ति, एकांतवासी योगी, ऊजड़ ग्राम, श्रांतपथिक, जगत सचाई सार, काश्मीरसुखमा, मनोविनोद, श्री गोखलेगुणाष्टक, देहरादून, तिलिस्माती मुंदरी, गोपिकागीत, भारतगीत।

पाठक जी की ब्रजभाषा और खड़ी बोली की कविता दोनों ही बड़ी मनोहारिणी होती थी। खड़ी बोली की कविता में कहीं-कहीं ब्रजभाषा के रूप आ गए हैं पर वे उपेक्षा की दृष्टि से देखे जाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि खड़ी बोली-कविता के आदि कवियों में आपका स्थान बहुत ऊँचा है। वे किसी छंद को लिखकर उसका कई बेर परिमार्जन करके तब उसे प्रकाशित करते थे। आपका गद्य भी बड़ा पुष्ट और परिमार्जित होता था। लखनऊ के हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के आसन से जो अभिभाषण दिया था वह आदर्शरूप है।

(२७) महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी

बहुत दिन हुए चैनसुख नामक एक सरयूपारी दुबे ब्राह्मण काशी में संस्कृत पढ़ने आए। वे शिवपुर के पास भँडलाई गाँव में एक उपाध्याय के यहाँ अध्ययन करने लगे। उपाध्याय जी की कोई संतति न होने के

ही से जन्मते और एक ही से मरते हैं। ईश्वर ने जिसके सिर पर भार रख दिया है उसे अंत तक निबाह ले जाना ही बड़प्पन है। आपने कुछ दिनों तक क्वींस कालेज में गणित के प्रोफेसर का भी काम किया था, और अनेक वर्षों तक काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के सभापति रहे। आपकी विद्वत्ता पर मुग्ध होकर गवर्मेंट ने आपको महामहोपाध्याय की उपाधि से भूषित किया था। आपकी सुकीर्ति यूरोप तक फैली थी।

आपका देहांत २८ नवंबर सन् १९१० को काशी में हुआ। पंडित जी ने मातृ-भाषा हिंदी की बहुत कुछ सेवा की पर अंत में कुछ कुचक्रियों के फेर में पड़कर 'रामकहानी' नाम की पुस्तक लिखकर उसकी उन्नति के मार्ग में बाधा डाली। सबसे विशेष बात इनमें यह थी कि जहाँ काशी के पंडितगण हिंदी को भाखा, भाखा कहकर हेय दृष्टि से देखते और उसकी उपेक्षा करते थे वहाँ उन्होंने उसका पक्ष ग्रहण कर उसके भांडार को भरने का सतत प्रयत्न किया।

(२८) बाबू शिवनंदनसहाय

आरा नगर से प्रायः एक कोस पश्चिम इख्तियारपुर नाम का एक बहुत पुराना गाँव है। वहाँ अधिकतर श्रीवास्तव कायस्थों की ही बस्ती है। बाबू शिवनंदनसहाय का जन्म और निवासस्थान यही इख्तियारपुर है। बादशाही समय में इनके पूर्वज आरा परगने के कानूनगो हुआ करते थे। इनके दादा बाबू गुरुसहाय गाजीपुर के तहसीलदार थे। बाबू गुरुसहाय के चार पुत्र थे, जो सबके सब पढ़े-लिखे तथा सरकारी अदालतों में अच्छे पदों पर नियुक्त थे। बाबू कालीसहाय उन चारों में सबसे छोटे थे। इनके दो पुत्र हुए, बाबू शिवनंदनसहाय और महानंद-सहाय। छोटे महानंदसहाय का देहांत बाल्यावस्था ही में हो गया था।

बाबू शिवनंदनसहाय का जन्म संवत् १९१७ आश्विनशुक्ला २ सोमवार को हुआ था। बाल्यावस्था में इन्हें नियमानुसार पहले फारसी की ही शिक्षा दी गई थी। कुछ सयाने होने पर ये बाँकीपुर में जाकर अँगरेजी पढ़ने लगे। वहीं इन्होंने एंट्रेंस पास किया। इसके अनंतर २१ वर्ष की अवस्था में ये पटने की जजी में सेकेंड क्लार्क हो गए। उस पद पर कुछ दिनों काम कर चुकने पर इनकी उन्नति हुई। पहले ये अकाउंटेंट और फिर हेड क्लार्क नियत हुए। फिर ये उसी दफ्तर में अनुवादक का काम करते रहे।

युवावस्था में इन्होंने स्वर्गीय साहित्याचार्य पंडित अंबिकादत्त व्यास के अनेक व्याख्यान सुने थे और उन्हीं के उत्साह दिलाने पर इनकी रुचि हिंदी की ओर हुई। ये हिंदी पढ़ने लगे और थोड़े ही दिनों में इन्होंने हिंदी के अनेक ग्रंथ पढ़ डाले। गोस्वामी तुलसीदास तथा भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के ग्रंथों को ये बड़ी रुचि से पढ़ा करते थे। उन्हीं ग्रंथों को देखकर इन्हें कविता करने का उत्साह हुआ। पटना-हरिमंदिर के महंत बाबा सुमेरसिंह जी हिंदी-काव्य के बहुत अच्छे ज्ञाता थे। उन्हीं से ये कविता सीखने लगे और थोड़े ही समय में उसमें इन्होंने अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। इसके अनंतर इन्होंने बँगला और पंजाबी भाषाओं का भी अभ्यास कर लिया।

स्वर्गीय पंडित अंबिकादत्त व्यास के साथ इन्होंने युक्त-प्रांत तथा पंजाब के सभी मुख्य-मुख्य स्थानों में भ्रमण किया था। इसके अतिरिक्त इन्होंने स्वयं भी सपरिवार अनेक तीर्थों तथा प्रसिद्ध-प्रसिद्ध स्थानों की यात्रा की थी।

हिंदी-गद्य और पद्य में इन्होंने अनेक पुस्तकें लिखी हैं जिनमें दयानंदमतमूलोच्छेद, विचित्रसंग्रह, सुदामा नाटक, कविताकुसुम, कृष्ण और

सुदामा आदि विशेष उल्लेख के योग्य हैं। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र की बड़ी जीवनी के लेखक भी ये ही थे। पंडित अंबिकादत्त व्यास-कृत गोसंकट नाटक का न्होंने अँगरेजी में अनुवाद किया था। श्रीसीतारामशरण भगवानप्रसाद की एक जीवनी भी इन्होंने लिखी है, जिसके एक ही वर्ष में दो संस्करण हुए हैं। इनके अतिरिक्त तुलसीदास की जीवनी तथा साहब प्रसादसिंह और बाबा सुमेरसिंह की जीवनियाँ आपने लिखी हैं। ये अच्छे लेखक थे और इनकी समालोचना सारगर्भित होती थी। इनका देहांत संवत् १९८९ में हुआ।

इनका स्वभाव बहुत सरल था। ये कट्टर सनातनधर्म्मावलंबी थे। साधु-महात्माओं की संगति और सेवा में ये बहुत प्रसन्न रहते थे। ये कानों से कुछ ऊँचा सुनते थे।

(२९) बाबू देवकीनंदन खत्री

मुल्तान के दीवान तथा तालुकेदार लाला नौनिद्धिराय एक बड़े भारी आदमी थे। उनकी कई पीढ़ी पीछे उनकी संतान के कई लोग लाहौर में आ बसे, परंतु राजा रणजीतसिंह के पुत्र शेरसिंह के समय में जब लाहौर में एक प्रकार की अराजकता-सी फैल गई तब लाला अचरजमल सपरिवार लाहौर छोड़कर काशी में आ बसे।

लाला अचरजमल के दो पुत्र हुए, लाला नंदलाल और लाला ईश्वरदास। लाला नंदलाल के तीन लड़के हुए, बाबू देवीप्रसाद, बाबू भगवानदास और बाबू नारायणदास; और लाला ईश्वरदास के पुत्र हमारे चरितनायक बाबू देवकीनंदन थे।

आपका जन्म संवत् १९१८ के आषाढ़ मास में हुआ था, आपकी माता मुजफ्फरपुर के बाबू जीवनलाल महता की बेटी थीं। इस कारण इनके

पिता अक्सर वहीं रहा करते थे। इनका जन्म भी मुजफ्फरपुर में हुआ था और वहीं इनका लालन-पालन भी हुआ। कुछ बड़े होने पर इनको पहले हिंदी और फिर संस्कृत पढ़ाई गई, फारसी भाषा से इन्हें स्वाभाविक प्रेम था परंतु इनके पिता की उस ओर बड़ी अरुचि थी। इसी कारण ये बाल्यावस्था में तो फारसी न पढ़ सके परंतु १८ वर्ष की अवस्था के अनंतर जब ये गया जी में स्वतंत्र रहने लगे तब इन्होंने फारसी और उसी के साथ-साथ कुछ अँगरेजी का अभ्यास भी किया।

गया जिले के टिकारी-राज्य से इनके पिता का व्यापारिक संबंध था। इसी कारण इन्होंने गया जी में एक कोठी खोली और वहाँ उसका स्वतंत्र प्रबंध करने लगे। वहाँ इनको अच्छी आमदनी थी। बस एक तो रुपया पास, दूसरे युवावस्था, तीसरे स्वतंत्रता, तीनों ने अपना चमत्कार दिखलाया और अपने पात्र से मनमाना नाच नचवाया। कुछ दिनों पीछे जब टिकारी-राज्य में नाबालगी के कारण सरकारी प्रबंध हो गया और इनका उस राज्य से संबंध टूटा तब ये काशी चले आए, उस समय इनकी २४ वर्ष की अवस्था थी।

टिकारी-राज्य में बनारस के राजा महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायण-सिंह की बहिन ब्याही थीं। इसी से ये बनारस में उक्त महाराज के कृपा-पात्र हुए। इन्होंने मुसाहब बन कर दरबार में रहना तो पसंद न किया परंतु चकिया और नवगढ़ के जंगलों का ठीका लिया। इन जंगलों की लाह, लकड़ी तथा और और पैदावार की आमदनी इनको थी। इसी कारण इनको सब जगह घूमना-फिरना पड़ता था। इस अवस्था में इन्होंने जंगल की खूब सैर की। उक्त जंगलों के बीहड़, वन, पहाड़ी, खोहें और प्राचीन इमारतों के अवशेष आदि दर्शनीय स्थान इन्होंने बड़ी सावधानी से देखे।

इसी समय इनको कुछ लिखने की धुन समाई और हिंदी में चंद्रकांता नामक उपन्यास लिखने का इन्होंने लग्गा लगा दिया। इस पुस्तक में इन्होंने अपने गया जी की जवानी के तजुर्बे और काशी में आने पर अपनी आँखों देखी हुई जंगलों की बहार का वर्णन किया है। चंद्रकांता पहले हरिप्रकाश प्रेस से छप कर प्रकाशित हुई। यह पुस्तक सर्वसाधारण को बड़ी रुचिकर हुई; यहाँ तक कि सैकड़ों आदमी इसी की बदौलत हिंदी के पाठक बन गए और कई एक को इसी की बदौलत हिंदी लिखने का शौक लग गया।

चंद्रकांता और संतति के ११ नंबर हरिप्रकाश प्रेस में छपे, इसके पीछे सन् १८९८ के सितंबर में आपने लहरी प्रेस नाम से अपना निज का प्रेस खोल लिया। इनके नरेंद्रमोहनी, कुसुमकुमारी, वीरेंद्रवीर, काजर की कोठरी और भूतनाथ ये पाँच उपन्यास और भी हैं। ये सब निज कल्पनाशक्ति से लिखे गए हैं। इन्होंने अपने निज के खर्चे से सुदर्शन नाम का एक मासिक पत्र भी निकाला था जो कि उस समय हिंदी में एक प्रसिद्ध मासिक पत्र था। संपादक इसके पंडित माधवप्रसाद मिश्र थे। परन्तु संपादक महाशय का देहांत हो जाने से सुदर्शन का भी अदर्शन हो गया।

बाबू देवकीनंदन ने हिंदी-साहित्य के एक अंग की पूर्ति में बहुत नाम पाया है और इसी से उनके द्वारा हिंदी भाषा का भी बहुत उपकार हुआ है।

इनका देहांत १ अगस्त १९१३ को हुआ।

बाबू देवकीनंदन खत्री हिंदी में मौलिक उपन्यासों के प्रवर्त्तक माने जा सकते हैं। यद्यपि इनके उपन्यास ऐयारी की लीला से भरे हुए हैं, उनमें उन गुणों का सर्वथा अभाव है जो किसी उपन्यास के मूल तत्त्व

माने जाते हैं तथापि यह मानना पड़ेगा कि इन्होंने सीधी-सादी हिंदी में इन रोचक कहानियों को लिखकर हिंदी-प्रसार में बड़ी सहायता पहुँचाई। इनकी भाषा बहुत सरल होती थी। इनके ग्रंथों के प्रचार का यह भी मुख्य कारण है।

(३०) मेहता लज्जाराम शर्मा

मेहता लज्जाराम जी बड़नगर (गुर्जर) ब्राह्मण थे। इनका ऋग्वेद, शाखायनी शाखा, औक्षणस गोत्र और मेहता अवटंक था। नियमानुसार इनके वंश में दान या कन्या का धन लेना वर्जित है और बहुत ही निषिद्ध समझा जाता है।

इनके पूर्वज पहले गुजरात के बड़नगर नामक स्थान में रहकर व्यापार करते थे। संवत् १८१५ के लगभग इनके प्रपितामह बूँदी, कोटा आदि राज्यों से होते हुए सवाई माधवपुर पहुँचे। उनके पुत्र गणेशराम जी कई स्थानों से होते हुए बूँदी चले गए थे। संवत् १९११ में उनके पुत्र गोपालराम जी (मेहता लज्जाराम जी के पिता) बूँदी-राज्य में नौकर हुए। राज्य का तोशाखाना उनके सुपुर्द था। उसी पद पर २७ वर्ष तक उन्होंने अपना जीवन बिता दिया और एक को छोड़कर किसी दूसरे मालिक की नौकरी नहीं की। संवत् १९३८ में उनका देहांत हो गया। उनके दस पुत्र और पाँच कन्याएँ थीं।

लज्जाराम जी का जन्म चैत कृष्ण २ संवत् १९२० को बूँदी-राज्य में हुआ था। बूँदी में कोई स्कूल न होने के कारण इनकी यथोचित शिक्षा न हो सकी। तो भी इन्होंने अपने शौक से अँगरेजी का साधारण ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इसके अतिरिक्त संस्कृत, मराठी, गुजराती और उर्दू आदि भाषाओं का भी इन्हें अच्छा ज्ञान था। पिता

जी के मरने के समय इनकी अवस्था १८ वर्ष की थी, इसलिये इन्हें अपने पिता का पद मिल गया। इन्हें विद्याभ्यास का शौक अधिक था; इसलिये तीन वर्ष तक उस पद पर रहने के अनंतर इन्होंने अपनी बदली शिक्षा-विभाग में करा ली। उस समय ये बूँदी की पाठशाला में सेकेंड मास्टर के पद पर नियुक्त हुए। इस काम को इन्होंने १८ वर्ष तक किया। इस बीच में कुछ दिनों तक ये "श्रीरंगनाथ मुद्रालय" के मैनेजर और कोई चार वर्ष तक "सर्वहित" नामक पाक्षिक पत्र के संपादक रहे। इस प्रकार घर पर रहकर ही ये अपना समय व्यतीत करते थे। पर एक बेर राज्य के एक उच्च अधिकारी से किसी सामाजिक कार्य में इनकी खटपट हो गई और सेठ खेमराज के बुलाने पर ये "श्रीवेंकटेश्वरसमाचार" का संपादन करने के लिये बंबई चले गए। सन् १८९७ से १९०४ तक इन्होंने "श्रीवेंकटेश्वर" का संपादन किया। इनके संपादनकाल में उक्त पत्र में सनातनधर्म, सामाजिक सुधार, कृषि, शिल्प और वाणिज्य आदि पर उपयोगी लेख निकलते रहे और पत्र की अच्छी उन्नति हुई। अनुवाद और स्वतंत्र सब मिलाकर आपने हिंदी में २५ से अधिक पुस्तकें लिखी हैं। स्वतंत्र लिखे हुए उपन्यासों में धूर्त, रसिकलाल, हिंदू गृहस्थ, आदर्श दंपति, बिगड़े का सुधार, आदर्श हिंदू आदि कई सामाजिक घटनापूर्ण उपन्यास बहुत उत्तम और सुपाठ्य हैं। इसके अतिरिक्त इनकी अमीर अब्दुलरहमान, विक्टोरिया-चरित्र, वीरबलविनोद, भारत की कारीगरी आदि पुस्तकें संगृहीत और कपटी मित्र, विचित्र स्त्री-चरित्र, राजशिक्षा, बालोपदेश, और नवीन भारत आदि पुस्तकें अनुवादित हैं। इनमें से अधिकांश पुस्तकें श्रीवेंकटेश्वर प्रेस में ही छपी हैं और श्रीवेंकटेश्वरपत्र के संपादन-काल में ही लिखी गई हैं।

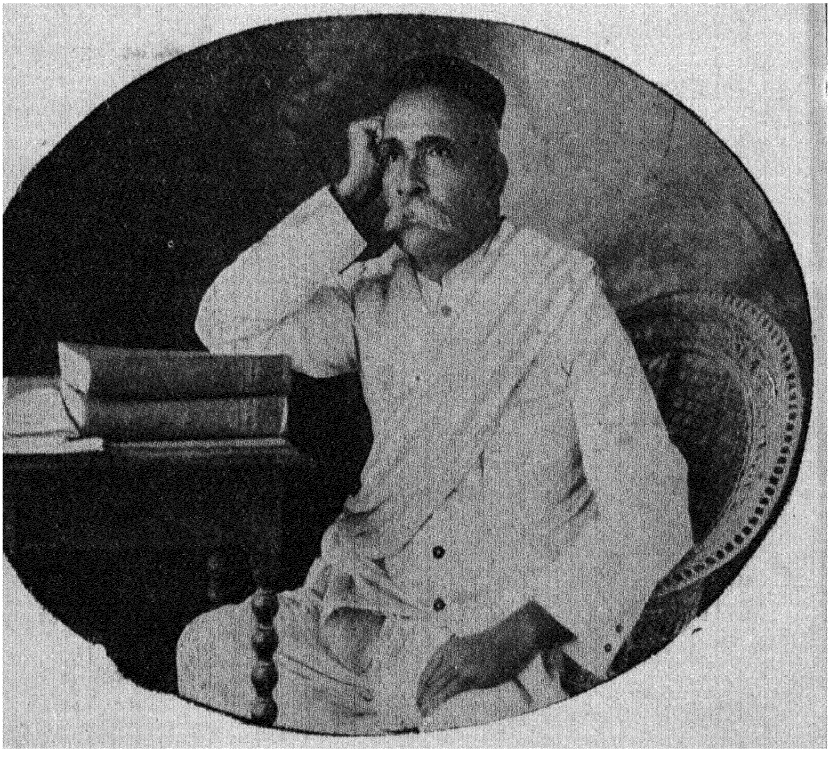

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ।

बंबई में जब इनका स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया तब संवत् १९६१ में ये फिर बूँदी चले गए। राजा और प्रजा दोनों का ही इन पर समान विश्वास और प्रेम था। इसलिये इनकी योग्यता से प्रसन्न होकर बूँदी-नरेश ने इन्हें राजपूताने के एजेंट गवर्नर-जेनरल की सेवा में राज्य की ओर से वकील बना कर भेज दिया। अंत तक आप उसी पद पर नियुक्त रहे और योग्यतापूर्वक अपना कार्य करते रहे।

ये परम वैष्णव थे और सांप्रदायिक झगड़ों से सदा अलग रहते थे। गाने-बजाने, खेल-तमाशे, या सैर-सपाटे का इन्हें ज़रा भी शौक नहीं था। इनके अवकाश का समय पुस्तकें पढ़ने या लेख आदि लिखने में जाता था। स्वभाव इनका बहुत ही सीधा-सादा और मिलनसार था। किसी से विरोध हो जाने पर भी ये उसके गुणों की प्रशंसा ही करते थे और सदा उससे शिष्ट व्यवहार रखते थे। अभिमान या और कोई दोष इन्हें छू तक नहीं गया था।

इनका देहांत सौर श्रावण २ संवत् १९८८ में हुआ। इन्होंने अपना जीवन-चरित भी लिखा है जो प्रकाशित हो गया है।

(३१) पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी

अवध-प्रांत के अंतर्गत जिला रायबरेली में दौलतपुर नाम का एक गाँव है। दौलतपुर में हनुमंत द्विवेदी नाम के एक प्रसिद्ध पंडित हो गए हैं। इनके दुर्गाप्रसाद, रामसहाय और रामजन ये तीन पुत्र थे। रामजन तो बाल्यावस्था ही में मर गए। दुर्गाप्रसाद गोरा के ताल्लुकेदार के यहाँ नौकर थे। उनमें एक गुण बड़ा विलक्षण था कि वे तरह-तरह के नये-नये बड़े ही मनोरंजक किस्से बनाकर कहा करते थे। तीसरे रामसहाय फौज में नौकर थे। सिपाही-द्रि ह

के पीछे वे फौजी नौकरी छोड़कर बंबई में गोस्वामी चिमनलाल और फिर गोस्वामी नृसिंहलाल के यहाँ नौकर हो गए थे। वे बड़े भगवद्भक्त थे और महावीर जी का इष्ट रखते थे। उनके एक कन्या और एक पुत्र—दो संतान हुए।

रामसहाय के पुत्र का जन्म संवत् १९२१, वैशाख शुक्ल ४ को हुआ और उसका नाम महावीरप्रसाद रक्खा गया। महावीरप्रसाद के जन्म के आध घंटे बाद जातकर्म होने के पहले पंडित सूर्यप्रसाद द्विवेदी नामक एक ज्योतिर्विद् ने उनकी जिह्वा पर सरस्वती का बीज-मंत्र लिखा। गाँव के मदरसे में इन्होंने हिंदी और उर्दू पढ़ी और घर पर अपने चाचा पंडित दुर्गाप्रसाद के प्रबंध से इन्होंने थोड़ा-सा संस्कृत-व्याकरण, दुर्गासप्तशती, विष्णुसहस्रनाम, शीघ्रबोध और मुहूर्तचिंतामणि आदि पुस्तकें कंठ कीं। देहाती मदरसे की शिक्षा समाप्त होने पर ये ३२ मील दूर रायबरेली के हाईस्कूल में अँगरेजी पढ़ने के लिए भेजे गए। उस समय इनकी अवस्था केवल १३ वर्ष की थी। अँगरेजी के साथ इनकी दूसरी भाषा फारसी हुई, क्योंकि उस स्कूल में संस्कृत पढ़ाई ही नहीं जाती थी।

दौलतपुर से रायबरेली बहुत दूर पड़ती थी। इसलिये वहाँ से चले आकर इन्होंने जिला उन्नाव के पुरवा कस्बे में एँग्लो वर्नाक्यूलर टाउन स्कूल में नाम लिखाया। पर कुछ दिनों पीछे वह स्कूल टूट गया। तब ये फतहपुर के स्कूल में गए और वहाँ से उन्नाव। उन्नाव से ये अपने पिता के पास बंबई चले गए। बंबई में न्होंने मराठी और गुजराती सीखी और संस्कृत और अँगरेजी का भी कुछ अभ्यास किया। कुछ दिन विद्याध्ययन करने के अनंतर अपने देश के चार यार-दोस्तों के कहने में आकर इन्होंने रेलवे में नौकरी

कर ली। वहाँ से ये नागपुर आए। परंतु वह जगह पसंद न आने से इन्होंने अजमेर की यात्रा की और वहाँ राजपूताना रेलवे के लोको आफ़िस में नौकर हो गए। परंतु वहाँ से एक वर्ष पीछे वे फिर बंबई चले आए।

बंबई आकर इन्होंने तार का काम सीखा और फिर जी० आई० पी० रेलवे में सिगनलर हो गए। वहाँ क्रम क्रम से इनकी उन्नति होती रही। हर्दा, खंडवा, हुशंगाबाद और इटारसी में इन्होंने कोई पाँच वर्ष काम किया। उसी बीच में तार के काम के सिवा न्होंने और और काम भी सीखे। फ़ौज के काम में इन्होंने विशेष करके सबसे अधिक प्रवीणता प्राप्त की।

जबलपुर के डिस्ट्रिक्ट ट्राफिक सुपरिंटेंडेंट, डब्लू० बी० राइट जब इंडियन मिडलैंड रेलवे के जनरल ट्राफिक मैनेजर हुए तब उन्होंने इन्हें अपने साथ ले जाने को चुना और झाँसी में टेलिग्राफ इंस्पेक्टर नियत किया। यहाँ पर कानपुर से इटारसी और आगरे से मानिकपुर तक सारी लाइन का तारसंबंधी काम इनके सुपुर्द हुआ। इन्होंने तार-संबंधी एक पुस्तक अँगरेजी में लिखी और नई तरह का लाइन-क्लियर ईजाद करने में बड़ी योग्यता दिखलाई। कुछ दिनों के अनंतर ये हेड टेलिग्राफ इंस्पेक्टर कर दिए गए।

रात-दिन के दौरे के काम से इनकी तबीअत उकता गई थी। इसलिये इन्होंने जनरल ट्राफिक मैनेजर के दफ्तर में अपनी बदली करा ली। यहाँ ये क्लेम्स डिपार्टमेंट के हेडक्लर्क नियत हुए। जब आई० एम० और जी० आई० पी० दोनों रेलें एक हो गईं तब ये बंबई बदल गए। वहाँ इनको एक विशेष ऊँचा पद मिलनेवाला था, पर वहाँ रहना इन्होंने स्वीकार न करके पुनः झाँसी को अपनी बदली करा

ली। इस बेर ये डिस्ट्रिक्ट ट्रैफिक सुपरिंटेंडेंट के चीफ क्लर्क हुए।

झाँसी में ही बंगालियों की संगति से इन्होंने बँगला भाषा का अभ्यास किया और संस्कृत में विशेष करके काव्य और अलंकार-शास्त्र का अध्ययन किया। इन्हें हिंदी-कविता का लड़कपन ही से शौक था। बस, इन्होंने हिंदी-भाषा की सेवा करने के लिए कलम उठाई।

द्विवेदी जी नौकरी छोड़कर साहित्य-सेवा करने का विचार पहले ही से कर रहे थे। इतने में एक ऐसी घटना हो गई जिसके कारण उन्हें नियत समय से कुछ पहले ही अपने विचार को कार्य में परिणत करना पड़ा। झाँसी में पुराने डिस्ट्रिक्ट ट्रैफिक सुपरिंटेंडेंट की बदली हो जाने पर जो नये साहब आए उनसे इनसे कुछ कहा-सुनी हो गई। उसी पर इन्होंने अपनी नौकरी से इस्तीफा दे दिया। तब से ये बिलकुल स्वतंत्र होकर हिंदी की सेवा में लगे रहे। सन् १९०३ में उन्होंने सरस्वती पत्रिका का संपादन-भार लिया और लगभग २० वर्षों तक वे यह काम करते रहे। इनके संपादन में सरस्वती की खूब उन्नति हुई और साथ ही द्विवेदी जी की प्रतिष्ठा भी हिंदी लेखकों में बढ़ी।

द्विवेदी जी ने जो योग्यता प्राप्त की थी वह सब अपने ही परिश्रम का फल था। एक पुरुष अपने ही उद्योग से कहाँ तक विद्वत्ता प्राप्त कर साहित्य-सेवा कर सकता है इसके आप आदर्श हैं। रेलवे के काम में रहकर भी विद्याध्ययन बनाए रखना आपकी दृढ़ प्रकृति का परिचय देता है।

द्विवेदी जी हिंदी और संस्कृत दोनों भाषाओं के कवि थे। नई तरह की हिंदी कविता जो आज-कल सामयिक पत्रों और पुस्तकों में देखी जाती है उसके आप पूर्ण पक्षपाती थे। आपकी कुछ कविताएँ

"काव्य मंजूषा" नामक पुस्तक में प्रकाशित हुई हैं। "कुमारसम्भवसार" आपकी कवित्वशक्ति का अच्छा नमूना है।

द्विवेदी जी समालोचक भी थे। आपकी "नैषधचरितचर्चा", "विक्रमांकदेवचरितचर्चा", "कालिदास की निरंकुशता", "हिंदी कालिदास की समालोचना" आदि पुस्तकें इसका प्रमाण हैं।

जब से द्विवेदी जी ने नौकरी छोड़ी थी तब से प्रतिवर्ष आप एक न एक नई और उपयोगी पुस्तक लिखते थे। जान स्टुअर्ट मिल की "लिबर्टी" नामक पुस्तक का जो अनुवाद आपने किया है वह "स्वाधीनता" नाम से प्रसिद्ध है। उसके दो संस्करण हो चुके हैं। प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता हर्बर्ट स्पेंसर की "एजुकेशन" नामक पुस्तक का भी अनुवाद आपने किया है। इसका नाम "शिक्षा" है। आपकी तीसरी पुस्तक "संपत्ति-शास्त्र" है। हिंदी-भाषा में यह पुस्तक अद्वितीय है। इसके अतिरिक्त आपने महाभारत, रघुवंश आदि कई अच्छे ग्रंथ लिखे हैं। इन पुस्तकों के पहले द्विवेदी जी ने "बेकनविचार-रत्नावली" नामक पुस्तक-द्वारा लार्ड बेकन के मुख्य-मुख्य निबंधों का अनुवाद भी प्रकाशित किया है।

द्विवेदी जी बहुत दिनों तक काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के साधारण सभासद् रहे थे। पीछे वे उसके आनरेरी सभासद थे। सभा के लिये आपने वैज्ञानिक कोश में प्रकाशित करने के लिये दार्शनिक परिभाषा लिखकर सभा की बहुत सहायता की थी।

द्विवेदी जी बड़े परिश्रमी थे। लिखने-पढ़ने में आप अपना सारा समय बिताते थे। अधिक परिश्रम के कारण आप प्रायः अस्वस्थ रहते थे। इनके सरस्वती में प्रकाशित लेखों के अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनके सब ग्रंथों की सूची आगे लिखी है—

जानते थे। जब से वे सरस्वती के संपादन-कार्य से अलग हुए तब से उनके स्वभाव में बड़ा परिवर्तन हो गया। वे नम्र और सहनशील हो गए। जब तक जीवित रहे विद्याव्यसन ही उनका एकमात्र कार्य था। वे जलोदर रोग से पीड़ित हुए और इसी से २१ दिसंबर सन् १९३८ को ७४ वर्ष की आयु में उनका स्वर्गवास हुआ। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने उनकी सेवाओं के उपलक्ष में बड़े समारोह के साथ उनका अभिनंदन किया था और हिंदी-साहित्य-सम्मेलन ने उन्हें साहित्य-वाचस्पति की उपाधि दी थी।

(३२) लाला बालमुकुंद गुप्त

लाला बालमुकुंद जी अग्रवाल वैश्य थे। इनका जन्म सन् १८६५ ई० में पंजाब के रोहतक जिले के गुरयानी नामक ग्राम में हुआ था।

पंजाब-प्रांत में इस समय हिंदी की जो कुछ थोड़ी-बहुत चर्चा है सो आर्य्यसमाज और कन्यामहाविद्यालय की बदौलत है, परंतु जिस समय गुप्त जी की बाल्यावस्था थी उस समय तो वहाँ हिंदी का काला अक्षर भैंस बराबर था। गुप्त जी को बाल्यावस्था में केवल उर्दू-फारसी की शिक्षा दी गई थी। वय प्राप्त होने पर आपने हिंदी का अध्ययन अपने शौक से किया था। इनको अच्छे-अच्छे मजमून लिखने का अभ्यास बालकपन से ही था। जब आप घर पर थे तभी लखनऊ के अखबार और अवध-पंच, लाहौर के कोहनूर, मुरादाबाद के रहबर और स्यालकोट के विक्टोरिया पेपर आदि अखबारों में लेख लिखा करते थे। इसलिये इनका नाम तभी से लेखकों में प्रसिद्ध था।

चुनार के प्रसिद्ध रईस बाबू हनुमानप्रसाद ने जब चुनार से "अखबारे चुनार" निकाला तब उन्होंने लाला बालमुकुंद को बुलाकर

उसका संपादक नियत किया। इन्होंने अखबारे चुनार को ऐसी योग्यता से चलाया कि उसे संयुक्त-प्रांत के सब अखबारों में सिरे कर दिया, परंतु कुछ दिनों पीछे गुप्त जी लाहौर चले गए और वहाँ सप्ताह में तीन बार निकलनेवाले "कोहनूर" के संपादक हुए। कुछ दिनों में आपने उस पत्र को दैनिक कर दिया।

उन्हीं दिनों कालाकाँकर के राजा रामपालसिंह जी ने इँगलैंड से आकर "हिंदी हिंदोस्थान" पत्र निकालना आरंभ किया था। पंडित मदनमोहन मालवीय उसके संपादक थे। वृंदावन में श्री भारतधर्म्म-महामंडल के अधिवेशन में मालवीय जी गए थे और गुप्त जी भी वहाँ आए थे। पंडित दीनदयालु शर्म्मा द्वारा दोनों महाशयों का परस्पर परिचय हुआ। अस्तु, जब मालवीय जी हिंदोस्थान का संपादन छोड़ने लगे तब इन्होंने गुप्त जी को कालाकाँकर में बुलाकर सहकारी संपादकों में नियत करवाया। राजा साहब स्वयं संपादक थे। पंडित प्रतापनारायण मिश्र, पंडित राधारमण चौबे, चौबे गुलाबचंद, पंडित रामलाल मिश्र, बाबू शशिभूषण चैटर्जी, पंडित गुरुदत्त शुक्ल और बाबू गोपालराम आदि लेखकों की कमेटी उनकी सहायक थी और लाला बालमुकुंद गुप्त उस कमेटी के सभापति या मुखिया थे।

कुछ दिनों के अनंतर गुप्त जी कालाकाँकर से अपने घर चले गए। इनके जाते ही उक्त नवरत्न कमेटी तीन-तेरह हो गई। उन्हीं दिनों कलकत्ते में हिंदी-बंगवासी का जन्म हुआ। जिस समय काशी में भारतधर्म्ममहामंडल का अधिवेशन हुआ तब बंगवासी के स्वामी वहाँ आए थे। गुप्त जी भी घर से आकर इस अधिवेशन में सम्मिलित हुए थे। यहीं बंगवासी के स्वामी से इनका परिचय हो गया। उन्हीं दिनों हिंदी बंगवासी में "शिक्षित हिंदू बाला" नाम का एक

उपन्यास निकलता था। जब गुप्त जी काशी से लौटकर घर आए तब इन्होंने उक्त उपन्यास की समुचित समालोचना करते हुए बंगवासी-संपादक बाबू अमृतलाल चक्रवर्ती को एक पत्र लिखा । उसके उत्तर में उन्होंने गुप्त जी की कृतज्ञता प्रकट की और उन्हें कलकत्ते बुलाकर अपना सहकारी नियत किया । यह बात सन् १८९३ ई० की है।

कुछ दिनों के पीछे गुप्त जी बंगवासी के संपादक हुए। वहाँ सात वर्ष तक आपने बड़ी योग्यता से काम किया परंतु जब बंगवासी के मालिकों में परस्पर झगड़ा हो गया तब इन्होंने इस्तीफा दे दिया और घर चले गए। घर पहुँचे देर न हुई थी कि भारतमित्र के मालिकों ने इन्हें कलकत्ते बुला लिया और भारतमित्र का संपादन-भार इनको दिया। तब से जीवन-लीला के समाप्त होने तक इन्होंने भारतमित्र का संपादन बड़ी योग्यता से किया। लाला बालमुकुंद गुप्त का परलोकवास सन् १९०७ भाद्रशुक्ला ११ बुधवार को देहली में हुआ । गुप्त जी एक बड़े ही चतुर और बुद्धिमान् पुरुष थे। इनके लिखे हुए पुस्तकाकार लेखों में तो केवल रत्नावली-नाटिका, हरिदास, शिवशम्भु का चिट्ठा, स्फुट कविता और खिलौना आदि पुस्तकें हैं। पहले पहल इन्होंने मडेलभगिनी का अनुवाद किया था जिसकी प्रच्छन्न रूप से नागरी-प्रचारिणी सभा ने तीव्र समालोचना की थी। आपकी लेख-प्रणाली बड़ी ही उत्तम थी। आप अच्छे समालोचक थे। इनके सब लेख प्रभावजनक होते थे। गुप्त जी हिंदी के लब्धप्रतिष्ठ लेखकों में थे। इनकी भाषा सरल, पुष्ट और परिमार्जित होती थी। कविता भी सरस करते थे। प्रतिवर्ष टेसू के नाम से ये व्यंग्यपूर्ण कविता छापते थे जिसका पठन-पाठन बड़े प्रेम से पाठक करते थे। भाषा की अनस्थिरता को

लेकर इनमें और पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी में बड़े मार्के का विवाद चला था जिसकी उन दिनों में बड़ी धूम थी।

(३३) बाबू ठाकुरप्रसाद खत्री

बाबू ठाकुरप्रसाद का जन्म सन् १८६५ में, काशी में हुआ था। ये पंजा-जातिवाही खत्री थे। इनके पिता बाबू विश्वेश्वरप्रसाद काशी के सरकारी खजाने में हेड क्लर्क थे। इसके अतिरिक्त इनके यहाँ आढ़त, बनारसी माल और हुंडी आदि का काम भी होता था। इनके पिता के शिक्षित होने के कारण इनकी शिक्षा का प्रबंध भी बाल्यावस्था से ही किया गया था।

आरंभ में इन्हें साधारण गिनती, हिंदी और फारसी की और फिर अँगरेजी की शिक्षा दी गई। गणित और विज्ञान की ओर इनकी विशेष रुचि थी। सन् १८८५ में इन्होंने काशी के गवर्मेंट कालेज से कलकत्ता-युनिवर्सिटी की एंट्रेंस परीक्षा पास की। सन् १८८७ में एफ० ए० की परीक्षा देने के समय यदि इनके पिता का देहांत न हो जाता तो शायद ये और भी आगे पढ़ते। पिता की मृत्यु के पीछे इन्हें कचहरी में इनकमटेक्स-क्लर्क का काम मिल गया।

कई पदों पर काम करने के अनंतर ये पुलिस के खजानची बना दिए गए। कई वर्ष पीछे ये असिस्टेंट कोर्ट इंस्पेक्टर हो गए। अपने काम से प्रसन्न करके इन्होंने अपने अफसरों से कई अच्छे प्रशंसापत्र प्राप्त किए थे।

इसके अनंतर ये मेरठ के थानेदार बनाकर बदल दिए गए। पर पुलिस का काम इनकी रुचि के विपरीत था, इसलिए इन्होंने उसे छोड़ दिया और पढ़ने-लिखने में अपना समय व्यतीत करना

आरंभ किया तथा बँगला और गुजराती आदि भाषाएँ पढ़ीं। हिंदी पर विशेष रुचि होने के कारण ये उसके कई पत्रों में लेखादि लिखने लगे। कुछ दिनों पीछे ये कारमाइकल लाइब्रेरी के लाइब्रेरियन हो गए और हिंदी में पुस्तकें लिखने लगे। सबसे पहले इन्होंने दो भागों में 'लखनऊ की नवाबी" नामक पुस्तक लिखी। न्होंने 'विनोद-वाटिका' नामक एक मासिक पत्र भी निकाला जो दो वर्षों तक निकलता रहा। इसी बीच में इन्होंने (१) भूगर्भ-विद्या, (२) ज्योतिष और (३) उत्तर-ध्रुव की यात्रा, पर तीन निबंध लिखकर काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से चाँदी के तीन पदक प्राप्त किए। अदालतों में नागरी-प्रचार करने के लिये इन्होंने सभा की ओर से कई जिलों में दौरा भी किया। सभा-द्वारा प्रकाशित वैज्ञानिक कोष में पदार्थ-विज्ञान और रसायन-शास्त्रवाले अंश इन्हीं के तैयार किए हुए थे। इंडियन प्रेस-द्वारा प्रकाशित "रामचरित-मानस" के बालकांड का मिलान करने के लिये ये अयोध्या और अयोध्याकांड के मिलान के लिये राजापुर भी गए थे।

सन् १९०५ में जब काशी में कांग्रेस के साथ प्रदर्शिनी हुई तो इन्होंने वहाँ कपड़ा बुनने का काम सीखा। शक्कर बनाने के काम की ओर भी ये अपना कुछ समय दिया करते थे।

देश के लाभ के लिये सर्वसाधारण में व्यावसायिक शिक्षा और व्यावसायिक ग्रंथों के प्रचार की बहुत आवश्यकता समझते थे। इसलिये इन्होंने इसी ओर ध्यान दिया था। इस संबंध में सबसे पहले इन्होंने "सुनारी" नामक पुस्तक लिखी। दूसरी पुस्तक इन्होंने कपड़े की बुनाई पर "देशी करघा" नाम की लिखी। इसी बीच में सरकार ने इन्हें हिंदी में "व्यापारी और कारीगरी" नामक पाक्षिक पत्र निकालने के

लिये ५००) वार्षिक की सहायता देना स्वीकार किया और फिर इसी का उर्दू-संस्करण निकालने के लिये ५००) वार्षिक और बढ़ा दिया। इस उर्दू-संस्करण का नाम "सनअत व हिरफत मुमालिक मुतहद्दः" था।

उर्दू के "रिसाला मुफ़ीदुल-मजारईन" के ढंग पर ये हिंदी में भी एक मासिक पत्र निकालने के विचार में थे, पर बीमार पड़ जाने के कारण वह कार्यरूप में परिणत न हो सका। छः मास पीछे अच्छे होने पर इन्होंने "जमींदार" नामक एक पत्र निकाला, पर एक वर्ष के अनंतर वह बंद हो गया।

दिन पर दिन कपड़ा सीने की मशीनों का प्रचार बढ़ते देख इन्होंने उसके साधारण दोष दूर करने के विषय पर भी एक पुस्तक छपवाई। बड़े परिश्रम से संग्रह करके इन्होंने "जगत् व्यापारिक पदार्थ कोष" एक उत्तम और उपयोगी ग्रंथ लिखा। इसके लिये सरकार से इन्हें १,०००) की सहायता मिली थी। ये पारिभाषिक शब्दों का भी एक कोष तैयार किया चाहते थे, जिसके लिये इन्होंने बहुत-सा मसाला इकट्ठा कर लिया था। "हिंदुस्तान के ढोर डाँगर, उनकी जातियाँ और गुण" नामक एक पुस्तक भी इन्होंने लिखी थी जो अब तक अप्रकाशित है। इन्होंने "व्यापारी और कारीगर" नामक एक निज का प्रेस भी खोल रक्खा था।

बाबू ठाकुरप्रसाद बहुत मिलनसार, सरलचित्त और हँसमुख थे। हिंदी में व्यापार-संबंधी पुस्तकों को लिखकर इन्होंने अच्छी प्रसिद्धि पाई है। इनका देहांत श्रावणशुक्ला १३ संवत् १९७४ में काशी में हुआ। इनकी भाषा की विशेषता यह थी कि वे साहित्यिक रचना के पीछे न पड़कर अपने विषय को हृदयंगम कराने का सदा सफलता-पूर्वक उद्योग करते रहे।

(३४) बाबू राधाकृष्णदास

बाबू राधाकृष्णदास गोलोकवासी भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र जी के फुफेरे भाई थे। बाबू हरिश्चंद्र जी के पिता बाबू गोपालचंद की दो बहिनें थीं, बड़ी यमुना बीबी, छोटी गंगा बीबी। बाबू राधाकृष्णदास गंगा बीबी के दूसरे पुत्र थे। इनके पिता का नाम कल्याणदास था और बड़े भाई का नाम जीवनदास।

बाबू राधाकृष्णदास का जन्म श्रावणसुदी पूर्णिमा संवत् १९२२ को हुआ था। जब इनकी अवस्था केवल १० महीने की थी तभी इनके पिता का परलोकवास हो गया; इसके थोड़े ही दिनों पीछे इनके बड़े भाई का भी देहांत हो गया। इससे बाबू हरिश्चंद्र जी ने अपनी फूफी को अपने घर बुला लिया। उन्हीं के निरीक्षण में इनका लालन-पालन हुआ और उन्हीं के प्रबंध से इनकी शिक्षा आरंभ हुई। हिंदी और उर्दू की साधारण शिक्षा घर पर हो जाने के अनंतर ये स्कूल में बैठाए गए। परंतु ये बालकपन से ही रोगग्रस्त रहा करते थे। इसी से कभी नियमपूर्वक अध्ययन न कर सके। फिर भी बाबू साहब के सुप्रबंध से इन्होंने सत्रह वर्ष की अवस्था तक अँगरेजी में एंट्रेंस क्लास तक पढ़ लिया और साथ ही साथ हिंदी, उर्दू, फारसी और बँगला भाषा में भी अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। पीछे से इन्होंने गुजराती भाषा का भी अभ्यास कर लिया था। इनका यह विद्याभ्यास उदरपोषण के लिये नहीं था, वरन मातृ-भाषा हिंदी की सेवा के लिये था। इसलिये इतना ही बहुत था।

बाबू राधाकृष्णदास हिंदी-साहित्याकाश के एक शुभ नक्षत्र थे। इन्होंने हिंदी-साहित्य की जैसी कुछ सेवा की वह किसी साहित्य-

सेवी को अविदित नहीं है। इन्होंने जितनी पुस्तकों की रचना की सब एक से एक उत्तम और प्रभाव-जनक हैं। पुस्तक-रचना के लिये इन्हें बाबू हरिश्चंद्र जी ने स्वयं उत्साह दिलाया था बरन अपने सामने ही इनसे लिखवाना भी आरंभ करा दिया था। इनकी सबसे पहली रचना "दुःखिनी बाला" है। इसके पीछे "निस्सहाय हिंदू", "महारानी पद्मावती", "प्रताप नाटक" आदि २५ पुस्तकें इन्होंने रचीं। गद्य-लेख लिखने के सिवाय आप काव्य में भी अच्छी पैठ रखते थे और स्वयं सरस और भावपूर्ण कविता करते थे। इन्होंने कविता में कोई पृथक् ग्रंथ तो नहीं रचा परन्तु स्वरचित गद्य पुस्तकों में यथा-समय जो कहीं-कहीं पर पद्य दिए हैं उन्हीं से इनकी काव्य-कुशलता का पूर्ण परिचय मिलता है।

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के नेताओं में बाबू राधाकृष्णदास मुख्य थे। सन् १८९४ ईसवी में, जब कि इस सभा की शिशु-अवस्था थी, सबसे पहले आप ही उसमें सम्मिलित हुए थे और अपने अंतिम समय तक सभा की पूर्ण रूप से सहायता करते रहे। सभा-भवन के बनवाने में इन्होंने बड़ा उत्साह दिखलाया था और उसके लिये बहुत कुछ उद्योग किया था। सभा के स्थायी कोष के लिये चंदा उगाहने को सभा के डेपुटेशन के साथ घर के हजारों काम छोड़कर और शरीर दुखी रहने पर भी बाबू राधाकृष्णदास कई जगह गए थे। दफ्तरों में नागरी लिपि जारी कराने के लिये जो डेपुटेशन संयुक्त-प्रांत के छोटे लाट के पास गया था उसमें भी आपने बहुत उद्योग किया था। नागरी-प्रचारिणी सभा में जब कोई सरकारी अफसर आता था तब उसके लिये आपही कविता में एड्रेस बना कर देते थे। सभा पर इनका इतना स्नेह था कि मरते समय भी ये उसे नहीं

भूले। अपनी लिखी हुई सब पुस्तकों का स्वत्व सभा के नाम वसीयत कर गए।

बाबू राधाकृष्णदास आजीविका के लिये अपने एक मित्र के साझे में ठीकेदारी का काम करते थे। उधर जो कई एक अच्छी अच्छी इमारतें काशी में बनी हैं वे आपही के प्रबंध से बनी हैं। आपके नाम से चौखंभे में एक दुकान भी चलती है। आप राधावल्लभीय संप्रदाय के दृढ़ वैष्णव थे। परंतु वास्तव में किसी मतमतांतर से द्वेष नहीं रखते थे। आप एक बड़े सच्चरित्र, शीलवान् और मिलनसार पुरुष थे। क्रोध और कुचाल का तो आपमें लेशमात्र भी न था। सर्व-साधारण में आपका जैसा आदर था वैसा ही जातिवालों में भी था। काशी के अग्रवाले मात्र आपकी बात मानते थे बरन यों कहना चाहिए कि एक प्रकार से आप अग्रवाल-समाज के चौधरी थे। इनका देहांत ४२ वर्ष की अवस्था में तारीख २ अप्रैल सन् १९०७ को हुआ।

बाबू राधाकृष्णदास सदा भारतेंदु जी की चलाई हुई पद्धति पर आँख मूँद कर चलते थे, यहाँ तक कि बहुत दिनों तक उनका पहनावा भी उन्हीं के अनुरूप होता था। कोई व्याख्यान वे ऐसा न देते थे जिसमें भारतेंदु जी का येन-केन-प्रकारेण उल्लेख न होता। सच तो यह है कि इनके साथ ही यह पद्धति भी समाप्त हो गई।

(३५) पंडित किशोरीलाल गोस्वामी

जिला मथुरा, इलाका शेरगुर, परगना छाता के अंतर्गत गाँव बसई खुर्द के माफीदार और वृंदावन केशोघाटस्थ श्री ठाकुर अटलविहारी जी के मंदिर के स्वत्वाधिकारी एवं सेवाधिकारी तथा श्रीमद्भगवन्निंबार्क संप्रदायाचार्य्य श्रीस्वयंभूदेव जी के वंशधर राजमान्य श्रीमद्गोस्वामी

केदारनाथ जी वृंदावन में एक बड़े विद्वान् पुरुष हो गए हैं। उन्होंने ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता पर भाष्य तथा श्रीमद्भागवत पर तिलक निर्माण किए हैं।

उक्त गोस्वामी महोदय के पुत्र गोस्वामी वासुदेवलाल जी यद्यपि अपने पिता के समान बहुत बड़े विद्वान् नहीं हुए तो भी बहुत कुछ थे; क्योंकि इनकी जीवन-संबंधी घटनाएँ अद्भुत और रहस्यपूर्ण हैं। इनकी प्रथम सहधर्मिणी की अकालमृत्यु हो जाने पर इनका दूसरा विवाह काशी के श्रीगोस्वामी कृष्णचैतन्यदेव जी की कन्या से हुआ, जिनसे हमारे चरितनायक का जन्म संवत् १९२२ माघकृष्ण अमावस्या को हुआ था। आठ वर्ष की अवस्था होने पर आपका यज्ञोपवीत हुआ और उसी समय विद्यारंभ कराया गया। इन्होंने संस्कृत में व्याकरण, वेदांत, न्याय, सांख्य, योग और ज्योतिष की प्रथम परीक्षा तक के ग्रंथ पढ़े और साहित्य में आचार्य परीक्षा तक के। इनके पिता कुछ दिनों तक आरे में रह आए थे। ये भी उन्हीं के साथ में थे। इन्होंने पंडित पीतांबर मिश्र जी तथा रुद्रदत्त जी से व्याकरण आदि कई ग्रंथ पढ़े थे और आरे में आर्य्यपुस्तकालय की स्थापना की और सुप्रसिद्ध पंडितवर बालगोविंद त्रिपाठी जी से वर्ण-धर्मोपयोगिनी सभा स्थापित करवाई। ये इन दोनों के मंत्री थे। वहाँ पर इन्होंने कुरमी जाति की वर्णव्यवस्था पर संस्कृत में एक पुस्तक लिखी थी जो "विज्ञवृंदावन" नामक पत्र में छपा करती थी।

इन्होंने वर्णधर्मोपयोगिनी सभा-द्वारा एक पाठशाला स्थापित करवाई थी और उसी सभा के प्रतिनिधि होकर संवत् १९४७ में भारतधर्ममहामंडल में सम्मिलित होने के लिए दिल्ली गए। वहाँ से आकर फिर ये काशी में बसने लगे। बाबू हरिश्चंद्र इनके मातामह के साहित्य के शिष्य थे। इस संबंध से उनके यहाँ नकी प्रायः अधिक बैठक रहने लगी। और

उन्हीं के सत्संग से हिंदी भाषा की ओर रुचि हुई। इसलिए मातामह गोस्वामी कृष्णचैतन्यदेव जी से भाषा-साहित्य तथा पिंगल के ग्रंथ पढ़कर फिर भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र तथा राजा शिवप्रसाद जी की प्रेरणा से गोस्वामी जी ने हिंदी में पहले-पहल "प्रणयिनीपरिणय" नाम का एक उपन्यास लिखा।

इन्होंने कविता, संगीत, जीवनचरित, नाटक, रूपक, योग आदि भिन्न भिन्न विषयों पर कोई डेढ़ सौ पुस्तकें लिखीं जिनमें से कुछ अपूर्ण रह गईं और कुछ प्रकाशित न हो पाईं। पहले तो आप स्फुट लेख लिख कर हिंदी-समाचारपत्रों की सहायता करते रहे परंतु सन् १८९८ ई० से आप निज की एक उपन्यास मासिक पुस्तक प्रकाशित करने लगे। तब से आपका स्फुट लेख लिखना बंद हुआ और हिंदी-साहित्य के भांडार में आप उपन्यासों की भरमार करने लगे। इन्होंने कोई ६५ उपन्यास लिखे हैं जो नवयुवकों को बहुत पसंद आते रहे। इनके लिखे पूर्ण अथवा अपूर्ण उपन्यासों की यह सूची है—चपला, तारा, लीलावती, रजियाबेगम, मल्लिका देवी, राजकुमारी, कुसुमकुमारी, तरुणतपस्विनी, हृदयहारिणी, लवंगलता, याकूती तख्ती, कटे मूँड़ की दो-दो बातें, कनककुसुम, सुखशर्वरी, प्रेममयी, गुलबहार, इन्दुमती, लावण्यमयी, प्रणयिनीपरिणय, जिन्दे की लाश, चन्द्रावली, चन्द्रिका, हीराबाई, लखनऊ की कब्र, पुनर्जन्म, त्रिवेणी, माधवीमाधव, राज-राजेश्वरी, जड़ाऊ कंकण में काला भुजंग, आरसी में हीरे की कनी, विहाररहस्य, ठगिनी, भोजपुर की ठगी, जगदीशपुर की गुप्त कथा, राजगृह की सुरंग, प्रहसन-पथिक या पथप्रदर्शिनी, कुँवरसिंह, बनारस-रहस्य, हमारी रामकहानी, अँगूठी का नगीना, इसे जिंदा कहें कि मुर्दा, सदासोहागिन, दिल्ली की गुप्त कथा, जनानखाने में दीपक, प्रेम-परिणाम,

पातालपुरी, दो सौ तीन, औरत से औरत का ब्याह, रोहितासगढ़ की रानी, अँधेरी कोठरी, काजी की चीठी, राजकन्या, राक्षसेंद्रराक्षस या घड़ा भर विष, साँप की बाँबी, सेज पर साँप, इसे चौधराइन कहें कि डाइन, राजबाला, आप आपही हैं, नरक-नसेनी, अँधेरी रात, सोना और सुगंध, आदर्श प्रणय, शान्तिनिकेतन, वार-विलासिनी, शांतिकुटीर।

इसके पहले ये समय-समय पर कई एक हिंदी-समाचारपत्रों के सहकारी संपादक रह चुके थे। न्होंने एक उपन्यास, एक चम्पू और तीन काव्य-ग्रंथ संस्कृत में भी रचे थे।

श्रीमती महारानी विक्टोरिया की डायमंड जुबिली के समय इन्होंने उक्त राजराजेश्वरी का जीवनचरित संस्कृत में लिख कर वैष्णव-समाज-द्वारा विलायत भेजा था, जिस पर इन्हें होम डिपार्टमेंट से धन्यवाद का परवाना मिला था। सन् १९१३ में इन्होंने मथुरा में श्रीसुदर्शन प्रेस नाम का अपना प्रेस खोला जिसमें इनकी पुस्तकें छपती रहीं।

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से इनका घनिष्ठ संबंध प्रारंभ से ही रहा। वे उसकी सेवा के लिए सदा तत्पर रहते थे। ये साहित्य-सम्मेलन तथा अन्य अनेक सम्मेलनों के सभापति रहे। इनका स्वर्गवास संवत् १९८९ में ६६ वर्ष की अवस्था में हुआ।

ऐयारी उपन्यासों को छोड़कर गोस्वामी जी इस युग के पहले मौलिक उपन्यास-लेखक हैं। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि उपन्यास लिखना ही इन्होंने अपने साहित्यिक कार्य का ध्येय बना रक्खा था और इसमें वे पूर्णतया सफल हुए। ऐतिहासिक उपन्यासों में काल-दोष प्रायः आ गया है। ऐसे उपन्यासों में आदर्श रूप तो बाबू रखालदास वंद्योपाध्याय के करुणा, शशांक आदि उपन्यासों के अनुवाद हैं। प्रायः

बँगला के उपन्यासों और नाटकों में यह दोष बहुलता से आ गया है। कदाचित् इसका प्रभाव भी परोक्षरूप से गोस्वामी जी पर पड़ा हो। किसी किसी उपन्यास में वर्णन तथा वार्तालाप अश्लीलता के बहुत निकट पहुँच गए हैं। उच्च वासनाओं का प्रायः अभाव-सा है। यह दोष प्रायः रेनाल्ड्स के अनेक उपन्यासों के समान है। यदि सब बातों पर ध्यान दिया जाय तो गोस्वामी जी के चरित्र की झलक इनमें देख पड़ेगी। इन दोषों के रहते हुए भी यह अवश्य मानना पड़ेगा कि इनके उपन्यासों में सामाजिक चित्र, वासनाओं के विविधरूप और मनोहर वर्णनों के साथ ही साथ चरित्र-चित्रण भी थोड़ा-बहुत पाया जाता है। भाषा इनकी प्रायः पुष्ट, परिमार्जित तथा सरल होती थी; पर जहाँ ये उर्दू की विद्वत्ता दिखाने के फेर में पड़ गए हैं वहाँ वे अपने ऊँचे स्थान से बहुत नीचे गिर जाते हैं। शब्दों के उच्चारण में अशुद्धियों का तो प्रेस के भूतों की कृपा कहकर मार्जन किया जा सकता है, पर अर्थों का विपर्यय क्षंतव्य नहीं है। अस्तु, यह बात निर्विवाद है कि पंडित किशोरीलाल गोस्वामी उत्कृष्ट उपन्यास-लेखक और कवि थे। इनका जीवन साहित्यमय था। शृंगार-रस के तो ये साक्षात् मूर्त्ति थे।

(३६) लाला भगवानदीन

लाला भगवानदीन का जन्म फ़तहपुर जिले के बरबर ग्राम में श्रावणशुक्ला ६ संवत् १९२३ को हुआ था। ये श्रीवास्तव दूसरे कायस्थ थे। इनके पूर्वज पहले रायबरेली में रहते थे, पर गदर के समय में वे लोग रामपुर चले गए। इनके पूर्वजों को नवाबी में बख़्शी का खिताब मिला था।

ग्यारह वर्ष की अवस्था तक ये अपनी जन्मभूमि बरबर ही में रहे और वहीं इनकी उर्दू और फारसी की आरंभिक शिक्षा हुई। पर उस समय इनकी माता का देहान्त हो जाने के कारण इनके पिता जो बुंदेलखंड में नौकर थे आकर इन्हें अपने साथ ले गए। बुंदेलखंड में ये नौगाँव छावनी में अपने फूफा के पास रहे और वहीं इनको फारसी की विशेष शिक्षा दी गई। चार वर्ष पीछे ये फिर घर लौट आए और वहीं दो वर्ष तक मदरसे में पढ़ते रहे। वहीं अपने दादा से इन्होंने साधारण हिंदी भी पढ़ी। सत्रह वर्ष की अवस्था में ये फतहपुर के हाई स्कूल में भर्ती किए गए जहाँ इन्होंने सात वर्ष में एंट्रेंस परीक्षा पास की। इस बीच में मिडिल पास करने के अनंतर इनका विवाह हो गया था, इसलिये गृहस्थी का भी बोझ इन पर आ पड़ा। तो भी ज्यों-त्यों करके प्रयाग के म्योर सेंट्रल कालेज में एफ० ए० में भर्ती हुए। उस समय इन्हें कायस्थ-पाठशाला प्रयाग से वृत्ति मिलती थी। इसके अतिरिक्त दो एक जगह प्राइवेट ट्यूशनें भी करनी पड़ती थीं। गृहस्थी के कुल झंझट इन्हीं के सिर पर थे, इसलिये ये कालेज की परीक्षा में उत्तीर्ण न हो सके। निदान इन्हें पढ़ना छोड़ना पड़ा और वहीं कायस्थ-पाठशाला में ये शिक्षक नियुक्त हो गए तथा डेढ़ वर्ष तक वहाँ काम करते रहे। इसके पीछे जनाना मिशन गर्ल्स हाईस्कूल में ये फारसी के शिक्षक हो गए और छः मास तक वहाँ रहे। फिर ये राज्य स्कूल के सेकेंड मास्टर होकर छत्रपुर बुंदेलखंड चले गए और सन् १८९४ से १९०७ तक वहीं रहे। सन् १९०७ में ये काशी के सेंट्रल हिंदू कालेज में उर्दू के टीचर होकर आए। डेढ़ वर्ष पीछे जब नागरी-प्रचारिणी सभा का कोष बनने लगा तब ये उसी में आ गए और बराबर उसके सहायक

संपादक रहे। बीच में एक बेर जब कोष-कार्यालय काश्मीर गया था तब ये अलग होकर पहले प्रयाग और फिर गया चले गए थे और कोष-कार्यालय के काशी आने पर पुनः उसी में सम्मिलित हो गए।

इनके दादा बड़े भक्त थे। उनकी आज्ञा के अनुसार ये उन्हें नित्य तुलसीकृत रामायण सुनाया करते थे। वहीं से इनकी रुचि हिंदी की ओर बढ़ी। १९ वर्ष की अवस्था में ये एक बेर अपने पिता के साथ हरिद्वार गए थे और वहाँ दो मास तक रहे थे। उसी समय में इन्होंने "कृष्णचौसठिका" नाम की एक कविता बनाई थी। इसके अनंतर वे और भी फुटकर कविता करते थे। छत्रपुर में ये अवकाश के समय बाबू जगन्नाथप्रसाद की लाइब्रेरी की पुस्तकें पढ़ा करते थे। वहाँ इन्होंने बुंदेलखंड के प्राचीन कवियों की बहुत-सी कविताएँ पढ़ीं। इसके पीछे वहीं के पंडित गंगाधर व्यास से अलंकार तथा काव्य के कुछ नियम इन्होंने सीखे। तदुपरांत इन्होंने शृंगारशतक, शृंगारतिलक तथा रामायण के दोहों पर कुंडलियों की रचना की। इसके अतिरिक्त छत्रपुर में इन्होंने कविसमाज और काव्यलता नामक दो सभाएँ स्थापित की थीं। साथ ही भारतीभवन नामक एक पुस्तकालय भी खोला था। उस समय ये रसिकमित्र, रसिकवाटिका और लक्ष्मीउपदेशलहरी में फुटकर कविताएँ और लेख भी भेजा करते थे। सन् १९०५ में लक्ष्मीउपदेशलहरी के संपादक देवरीनिवासी मंजुसुशील का देहांत हो गया। मरने से पूर्व वे लक्ष्मी के अध्यक्ष को सम्मति दे गए थे कि वे लाला भगवानदीन को ही लक्ष्मी का संपादक बनावें। तदनुसार लक्ष्मी का संपादन-कार्य आपके हाथ में आया, जिसे इन्होंने योग्यतापूर्वक किया। इन्होंने भक्तिभवानी नाम की एक कविता लिखी थी जिस पर कलकत्ते की बड़ी बाजार लाइब्रेरी से इन्हें एक

स्वर्णपदक मिला था। "रूस पर जापान क्यों विजयी हुआ ?" शीर्षक निबंध पर इन्हें १००) पुरस्कार मिला था। काशी में आकर इन्होंने "धर्म और विज्ञान", "वीरप्रताप," "वीरबालक" और "वीरक्षत्राणी" नामक पुस्तकें लिखीं। जब ये गया में थे तो इन्होंने बहुत-सी पाठ्य पुस्तकों की कुंजियाँ बनाई थीं।

इसके अनंतर इन्होंने रामचंद्रिका, कविप्रिया, रसिकप्रिया, कवितावली तथा बिहारीसतसई पर प्रामाणिक टीकायें लिखीं और सूरपंचरत्न नाम का एक अच्छा संग्रह भी किया था। इसके अतिरिक्त सूक्तिसरोवर नामक एक अच्छा संग्रह भी इन्होंने संपादित किया था तथा अलंकारमंजूषा नामक एक ग्रंथ लिखा था जो बहुत दिनों तक कालिजों में पढ़ाया जाता रहा।

जब हिंदू-विश्वविद्यालय में हिंदी-निबंध की पढ़ाई आरंभ हुई तब ये पंडित रामचंद्र शुक्ल के साथ वहाँ काम करने लगे और अंत काल तक वहीं नियत रहे।

इन्होंने अपनी पहली स्त्री बुंदेलाबाला को पढ़ा-लिखा कर सुशिक्षिता बनाया था और उसे कविता भी सिखलाई थी। बुंदेलाबाला की कई कविताएँ सामयिक पत्रों में निकली भी थीं। उसका देहांत हो जाने पर छत्रपुर में इन्होंने दूसरा विवाह किया था पर काशी आने पर वह स्त्री भी मर गई। सन् १९१२ में इन्होंने तीसरा विवाह किया।

लाला भगवानदीन का स्वभाव मिलनसार था। ये इतने परिश्रमी थे कि दिन-दिन भर निरंतर काम में लगे रह सकते थे। इनका देहांत २८ जुलाई सन् १९३० (संवत् १९८७) को काशी में हुआ।

(३७) रायबहादुर डाक्टर हीरालाल

रायबहादुर डाक्टर हीरालाल के पूर्वज महोबा के समीप सूपा गाँव में रहते थे। वहाँ से इनके पूर्वपुरुष कालूराम बिलहरी में आ बसे। इनके पुत्र नारायणदास वहाँ से मुड़वार (जिला जबलपुर) में आ गए। ये बड़े रामायणी थे और अर्थ बतलाने की निपुणता के कारण कलवार होते हुए भी 'पाठक' के नाम से प्रसिद्ध हुए। नारायणदास के पुत्र मनबोधराम भी बड़े रामायणी थे। इनके पुत्र ईश्वरदास हुए। इनके दो पुत्र हुए—हीरालाल और गोकुलप्रसाद।

बाबू हीरालाल का जन्म आश्विनशुक्ला ४ संवत् १९२४ को हुआ। पढ़ने-लिखने में वे बड़े तेज थे। सन् १८८१ में इन्होंने प्रथम श्रेणी में मिडिल पास किया और एक छात्रवृत्ति पाई। अब ये जबलपुर में आकर पढ़ने लगे और क्रमशः एंट्रेंस और एफ० ए० पास करते हुए सन् १८८८ में बी० ए० की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। अब आप पहले अस्थायी रूप से एक हाई स्कूल में मास्टर नियत हुए। इसके अनंतर आपको शिक्षकों को पदार्थ-विज्ञान पढ़ाने का काम दिया गया। इनकी योग्यता से प्रसन्न होकर, पहले ये डिप्टी इंस्पेक्टर, तब इंस्पेक्टर और थोड़े ही दिनों में छत्तीसगढ़ कमिश्नरी के इंस्पेक्टर बनाए गए।

सन् १८९९ में ये एक्स्ट्रा असिस्टेंट अमिश्नर बनाकर बालाघाट में अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए भेजे गए। वहाँ इन्होंने बड़ी लगन से काम किया। सन् १९०१ की मनुष्यगणना के समय ये पहले रायपुर में इस काम को करते रहे। कई भाषाओं के ज्ञाता होने तथा मध्यप्रदेश की भाषाओं, जातियों तथा विविध धर्म्मों की अभिज्ञता

रायबहादुर डाक्टर हीरालाल।

रहने के कारण आप मनुष्यगणना के असिस्टेंट सुपरिंटेंडेंट बनाए गए। यह काम समाप्त होते ही आप बिलासपुर के एक्स्ट्रा असिस्टेंट कमिश्नर बनाए गए। अभी वहाँ थोड़े ही दिन रहे थे कि आपको गजेटियर लिखने का काम सौंपा गया। इस काम को इन्होंने इतनी योग्यता से किया कि गवर्मेंट ने प्रसन्न होकर रायबहादुर की उपाधि दी। सन् १९११ की मनुष्यगणना में फिर आपकी सेवाओं का उपयोग किया गया। इस प्रकार क्रमशः उन्नति करते हुए वे डिप्टी कमिश्नर के पद तक पहुँचे और सन् १९२२ में आपने पेंशन ली।

पुरातत्त्व-विद्या में आपने अपने अध्यवसाय से बड़ी योग्यता प्राप्त कर ली थी। इनके अनेक महत्त्वपूर्ण लेख 'एपिग्राफिया इंडिका' में छपे हैं। आपने प्राकृत पुस्तकों की बड़ी एक रिपोर्ट भी गवर्मेंट के लिये तैयार की थी। कलचुरिवंश के इतिहास के विशेष ज्ञाता थे। पटना ओरियंटल कांफ्रेंस के आप सभापति हुए थे। हिंदी-पुस्तकों की खोज का काम आपने कई वर्षों तक किया और उसकी रिपोर्ट लिखी, जिससे इनकी योग्यता का परिचय मिलता है।

आप सन् १९०२ में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के सभासद् बने और क्रमशः उसके उपसभापति और सभापति हुए। सन् १९३३ में आपने योरप की यात्रा की। नागपुर-विश्वविद्यालय ने आपको डाक्टर की उपाधि से विभूषित किया था।

गवर्मेंट के लिये अनेक लेखों, रिपोर्टों तथा पुस्तकों के अतिरिक्त आपने हिंदी में ये पुस्तकें लिखी हैं—सागरभूगोल, शालाबाग, भौगोलिक नामार्थ परिचय, दमोह-दीपक, जबलपुर-ज्योति, सागर-सरोज, मंडलामयूख, वैराग्यलहरी और मध्यप्रदेश का इतिहास। इसके

अतिरिक्त आपके अनेक लेख हिंदी की कई पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित होते रहे। इनकी बहुत बड़ी संख्या है।

सन् १९३४ में आप शिमला गए। वहाँ से लौटने पर आपको जीर्णज्वर हो गया। अनेक उपाय किए गए पर रोग शांत न हुआ। इसी रोग से २० अगस्त सन् १९३४ (संवत् १९९१) को बंबई में आपका देहांत हुआ।

आप बड़े मिलनसार और हँसमुख स्वभाव के थे। अभिमान तो आपको छू भी नहीं गया था। रहन-सहन आपकी बहुत सादी थी। श्री राहुल सांकृत्यायन जी ने लिखा है—"अन्य विषयों के विद्वान् तो आप थे ही, किंतु कलचुरि-इतिहास का ऐसा ज्ञान रखते थे जैसा इस समय तक भारत में किसी को नहीं है।" वे इस इतिहास को लिखना चाहते थे, पर कुटिल काल की कृपा से ऐसा न कर सके। हिंदी के विद्वानों में उनका स्थान बहुत ऊँचा है। इनका एकमात्र व्यसन साहित्य-सेवा और ज्ञान-वर्धन था।

(३८) बाबू जगन्नाथदास "रत्नाकर" बी० ए०

बाबू जगन्नाथदास का जन्म काशी में भादों सुदी ५ संवत् १९२३ को हुआ था। ये दिल्लीवाल अग्रवाल वैश्य थे। इनके पूर्वपुरुषों का आदि-स्थान जिला पानीपत में था। और वे लोग मुगल-राज्य में ऊँचे-ऊँचे सरकारी पदों पर काम करते थे। इनके परदादा लाला तुलाराम जहाँदारशाह के दरबार में रहते थे। वे जहाँदारशाह के साथ ही एक बेर काशी आए और तब से यहीं रहने लगे।

बाबू जगन्नाथदास के पिता बाबू पुरुषोत्तमदास फारसी भाषा के अच्छे विद्वान् थे। फारसी तथा हिंदी-काव्य से उन्हें बहुत प्रेम था और उनमें

वे अच्छा अधिकार रखते थे। उनके पास प्रायः फारसी और हिंदी के अच्छे-अच्छे कवियों का जमघट रहता था। उन्हीं की देखा-देखी हमारे चरितनायक को भी काव्य में रुचि उत्पन्न हुई और ये उर्दू में शायरी करने और गजलें कहने लगे। धीरे-धीरे इनकी भाषा-संबंधी रुचि बदल गई और हिंदी पर इनका अनुराग उत्पन्न हुआ, तब से ये इसी भाषा में कविता करने लगे। आरंभ से अंत तक इनकी सारी शिक्षा काशी में ही हुई। सन् १८९२ में काशी में ही इन्होंने बी० ए० की डिग्री प्राप्त की। उस समय इनकी दूसरी भाषा फारसी थी। थोड़े दिनों पीछे इन्होंने रियासत आवागढ़ में नौकरी की। वहाँ ये मुहतमिम खजाना के पद पर नियुक्त हुए। दो वर्ष तक इन्होंने वहाँ योग्यतापूर्वक कार्य किया। पर वहाँ का जल-वायु इनके अनुकूल नहीं हुआ और वे प्रायः अस्वस्थ रहने लगे। इसलिये इन्होंने वह पद छोड़ दिया और काशी चले आए। यहाँ ये बहुत दिनों तक यों ही रहे। इसके अनंतर सन् १९०२ ई० में ये स्वर्गीय अयोध्या-नरेश महाराज सर प्रतापनारायणसिंह के प्राइवेट सेक्रेटरी नियुक्त हुए और उनके मृत्युकाल (नवंबर सन् १९०६) तक उसी पद पर रहे। श्रीमान् अयोध्या-नरेश का देहांत हो जाने पर इनकी योग्यता और कार्यकुशलता से प्रसन्न होकर अयोध्या की महारानी साहिबा ने इन्हें अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बना लिया। तब से अंत तक ये उसी पद पर रहे और बड़ी योग्यता-पूर्वक अपना कार्य करते रहे। महारानी के अधिकारों के संबंध में दीवानी मुकदमा चला था उसमें इन्होंने बड़ी योग्यता से महारानी का पक्ष समर्थन किया था। बाबू जगन्नाथदास हिंदी-काव्य-शास्त्र के पूर्ण ज्ञाता और ब्रजभाषा के उच्च श्रेणी के कवि थे। ये प्रसिद्धि से बहुत दूर भागते थे, इसलिये कुछ दिनों तक इनकी वास्तविक योग्यता

से बहुत ही परिमित लोग परिचित थे। छंदों, चौपाइयों और दोहों के विलक्षण अर्थ करने में ये बड़े ही निपुण थे। इनकी कविता बड़ी ही सरस और भावपूर्ण होती थी और कभी-कभी बड़े-बड़े प्राचीन कवियों की कविता से टक्कर लेती थी। स्वभाव के ये बड़े ही सरल, मिलनसार और विनोदप्रिय थे। इन्होंने हिंडोला, समालोचनादर्श, साहित्यरत्नाकर, घनाक्षरी, नियम-रत्नाकर, हरिश्चंद्र, शृंगारलहरी, गंगाविष्णुलहरी, रत्नाष्टक, वीराष्टक, गंगावतरण, कलकाशी, उद्धव-शतक नामक काव्य-ग्रंथों की रचना की है तथा चंद्रशेखर के हम्मीरहठ, कृपाराम की हिततरंगिणी और दूलह कवि के कंठाभरण का संपादन किया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने और भी अनेक फुटकर कविताएँ की हैं। इन्होंने कई सहयोगियों के साथ "साहित्यसुधानिधि" नाम का एक मासिकपत्र कई वर्षों तक निकाला था। इसमें प्राचीन तथा नवीन ग्रंथ छपते थे। इसमें इनके कुछ काव्य और दोहा-नियम प्रकाशित हुए थे, जिन्हें डाक्टर ग्रियर्सन ने अपनी लालचंद्रिका तक में उद्धृत किया था। इनके समस्त काव्य-ग्रंथों का संग्रह काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने 'रत्नाकर' नाम से बड़ी सजधज के साथ प्रकाशित किया है। बिहारी के दोहों का टीका-सहित एक प्रामाणिक संस्करण बिहारी-रत्नाकर नाम से इन्होंने संपादित किया था, जिसे गोपुस्तकमाला के स्वामी ने प्रकाशित किया है। ये सूरदास के सागर को एक प्रामाणिक संस्करण के संपादित करने में लगे हुए थे, पर दुःख की बात है कि वह उनके जीवन में पूरा न हो सका। उनके पुत्र ने उनकी हिंदी पुस्तकों का संग्रह तथा सूरसागर की सब सामग्री काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा को इस निमित्त दी कि वह पुस्तकों की रक्षा करे और सूरसागर को प्रकाशित करे। रत्नाकर जी की पद्धति के अनुसार समस्त सूरसागर

पं० शिवनाथजी शर्मा।

का संपादन हो चुका है पर उसका बहुत थोड़ा अंश अब तक प्रकाशित हो पाया है। सभा के वर्तमान कार्यकर्त्ताओं का ध्यान इधर साहित्य की वृद्धि और संरक्षण पर उतना नहीं है जितना हिंदी के प्रचार की ओर है। यही मुख्य कारण समस्त सूरसागर के अब तक प्रकाशित न होने का जान पड़ता है।

रत्नाकर जी प्राचीन लिपियों के पढ़ने में निपुण थे। इस संबंध में उनके दो लेख प्रकाशित हुए हैं—एक का संबंध पुष्यमित्र से और दूसरे का समुद्र गुप्त से है। 'बिहारी-रत्नाकर' में उन्होंने बिहारी का विस्तृत विवरण भी दिया है।

रत्नाकर जी सूरसागर के संपादन में लगे हुए थे कि उन्हें सहसा हरिद्वार से मसूरी जाने की आवश्यकता हुई। वे काम बंद कर जानेवाले ही थे कि सहसा हृदय की गति रुक जाने से २२ जून सन् १९३२ ई० को उनका देहावसान हो गया।

आधुनिक युग में रत्नाकर जी व्रजभाषा के प्रमुख कवि थे। उनकी कविता में ओज और अनुप्रास की भरपूर मात्रा रहती थी। उनका कविता पढ़ने का ढंग भी बड़ा मनोहर और प्रभावोत्पादक होता था। कविता करने में वे पद्माकर की टक्कर लेते थे। उनका रहन-सहन बहुत सादा था। वे हँसमुख और सरल प्रकृति के थे। मित्र-समागम से वे बड़े प्रसन्न होते थे और आदर-सत्कार में कोई त्रुटि न होने देते थे। वास्तव में वे हिंदी-काव्य-जगत् के एक उज्ज्वल रत्न थे।

(३९) पंडित शिवनाथ शर्मा

पंडित शिवनाथ शर्म्मा का जन्म काशी में, फाल्गुन बदी ११, संवत् १९२४ को हुआ था। आपके पिता पंडित दामोदर जी शर्म्मा

थे। आप सारस्वत ब्राह्मण थे। आपके पिता वेदपाठी और कर्मकांडी थे। ज्योतिष-शास्त्र भी अच्छा जानते थे।

शिवनाथ जी ने प्रारंभ में गुरु जी के यहाँ साधारण हिसाब-किताब की शिक्षा पाई। उसके पीछे लखनऊ के स्वनामधन्य, विद्वद्वर, स्वर्गीय पंडित ज्ञानेश्वर जी से आपने संस्कृत का अध्ययन किया। फिर लखनऊ के कैनिंग कालेज में आप अँगरेजी की शिक्षा पाते रहे और वहीं आपने बी० ए० तक पढ़ा। आपको विद्याध्ययन का व्यसन बराबर रहा और वह मृत्यु के पहले तक चलता रहा। संस्कृत के षट्काव्यों का आपने अच्छी तरह अनुशीलन किया था, तथा ज्योतिष-शास्त्र भी आप जानते थे। आपको संस्कृत-साहित्य से विशेष प्रेम था और आप बड़े अच्छे कर्मकांडी थे। अँगरेजी के प्रायः सभी प्रधान और प्रसिद्ध कवियों की रचनाएँ आपने पढ़ी थीं। उनमें शेक्सपियर, मिलटन और बायरन के आप विशेष भक्त थे। आप उर्दू, फारसी भी जानते थे और उन भाषाओं के कवियों की रचनाएँ भी आपने अच्छी तरह पढ़ी थीं।

हिंदी लिखने का आपको लड़कपन ही से शौक रहा। कालेज में भरती होने के पहले ही आपने 'रसिकपंच' नाम का एक हिंदी-पत्र निकाला था। पर वह दो वर्ष निकलकर बंद हो गया। इसके अनंतर कलकत्ते के पंडित सदानंद जी मिश्र के संपादकत्व में निकलनेवाले साप्ताहिक पत्र 'सार-सुधा-निधि' में आप लिखने लगे, उसमें 'चादु-वार्ता' शीर्षक से आपके हास्य-रस के लेख निकलते थे। उस समय उन लेखों की बड़ी धूम थी। लोग उन्हें बड़ी रुचि एवं आग्रह से पढ़ा करते थे। 'उचित वक्ता' और 'भारतमित्र' में भी आपके हास्य-रस के लेख समय-समय पर छपते रहते थे।

सन् १९०१ में, बूर-युद्ध के समय, 'गोपालपत्रिका' नामक हिंदी-पत्रिका का आपने संपादन किया। इसके अनंतर 'वसुंधरा' नाम की मासिक पत्रिका लखनऊ से निकाली। सन् १९०५ ई० में आपने अपने दामोदर-प्रेस से 'आनंद-पत्र' (साप्ताहिक) निकाला और लगभग १९०५ से उसको दैनिक कर दिया। समें 'मिस्टर व्यास की कथा' शीर्षक से आपके हास्य-रस के लेख बराबर निकला करते थे। उन्हीं में से चुने हुए सौ लेखों का संग्रह करके गंगा-पुस्तकमाला ने ४१६ पृष्ठों की एक पुस्तक प्रकाशित की है।

आपने बहुत दिनों तक श्री अवध गोशाला लखनऊ, के प्रधान मंत्री का कार्य किया। आपके समय में गोशाला की बड़ी उन्नति हुई। आपकी गो-सेवा की प्रशंसा श्रीमान् ११०८ श्री शंकराचार्य (गोवर्धन मठ) ने की थी और पंडित जी को 'गो-सेवा-धुरंधर' की उपाधि दी थी।

पंडित जी हास्य-रस के ही नहीं, राजनीति के भी उद्भट लेखक थे। जिन लोगों ने आपके ऐसे लेखों को पढ़ा है, वे जान सकते हैं कि आप किस योग्यता से अपने पक्ष का प्रतिपादन करते थे। आप नरमदल की राजनीति के अनुयायी थे, पर समय-समय पर सरकार की खरी और तीव्र आलोचना करने में भी आप पीछे नहीं रहे। आप कवि भी बड़े अच्छे थे।

पंडित जी एक सुयोग्य अध्यापक भी थे। लखनऊ की खत्री पाठशाला के आप हेड मास्टर थे और उसके बाद कालीचरण हाई स्कूल में बहुत दिनों तक अध्यापक रहे। सन् १९२० से आपने अवकाश ग्रहण कर लिया था।

लखनऊ के चतुर्थ हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की सफलता का श्रेय बहुत कुछ आपको ही है । सम्मेलन के दिनों में जिन प्रतिनिधियों ने आपके परिश्रम और आतिथ्यसत्कार को देखा है, वे इसे खूब जानते हैं।

पंडित जी ने हास्य-रस की कई पुस्तकें लिखी हैं। आपकी नागरी-निरादर, मानवी-कमीशन, दरबारीलाल, नवीन बाबू, बहसी पंडित, चंडूलदास, शिक्षा-रहस्य आदि हास्यरस की पुस्तकें पढ़ने ही योग्य हैं। इनके अतिरिक्त आपने मृगांकलेखा और गदर का फूल ये दो उपन्यास भी लिखे हैं । अवाक् वार्तालाप नाम की आपकी रचना अभी प्रकाशित नहीं हुई । अभी थोड़े ही दिन हुए आपने 'प्रयोग पारिजात' नाम की एक बहुत उपयोगी पुस्तक लिखी थी । इसमें पद्यों में हिंदी के मुहावरों का प्रयोग किया गया है । एक ग्रंथ 'काव्यलतिका' भी आपने लिखा था । ये रचनाएँ अभी अप्रकाशित हैं । शेक्सपियर के कुछ नाटकों का भी आपने हिंदी-अनुवाद किया था।

पंडित शिवनाथ जी हिंदी के पुराने लेखकों में थे। हास्य-रस के तो आप आचार्य ही माने जाते थे। आप बड़े ही मिलनसार, हँसमुख, मुँहफट, निर्भय, धर्मभीरु और सज्जन थे।

संवत् १९८४ में आपको कलकत्ते में पक्षाघात की बीमारी हुई । इस बार दाहने अंग पर आघात हुआ था । डाक्टरों के इलाज से कुछ कुछ चलने लगे थे; पर लखनऊ आकर बायें अंग पर फिर दूसरा दौरा हुआ। इस बार भी आप अच्छे होने लगे थे । परंतु आषाढ़शुक्ला २ संवत् १९८५ को इसी रोग में आपका शरीरपात हुआ।

(४०) राय देवीप्रसाद पूर्ण

राय देवीप्रसाद के पूर्वज कानपुर की घाटमपुर तहसील के भदास गाँव के रहनेवाले थे। यहाँ कई सौ वर्ष पूर्व विप्रदास नाम के एक श्रीवास्तव खरे कायस्थ सज्जन चकलेदार नियत थे। आपकी सेवा से प्रसन्न होकर तत्कालीन मुसलमान बादशाह ने ८४ गाँव का नानकार और ३,०००) वार्षिक वेतन बाँध दिया था। कई पीढ़ी पीछे मुंशी सोहनलाल हुए जिनके तीन पुत्रों में से सबसे छोटे राय रामगुलाम के चार पुत्र हुए जिनमें तृतीय पुत्र राय वंशीधर हुए। इनके पुत्र हमारे चरितनायक राय देवीप्रसाद हुए।

सन् १८५७ के बलवे में राय रामगुलाम ने कुछ अँगरेजों और मेमों को अपने घर पर आश्रय दिया था जिससे बागियों ने इनका घर-बार लूट लिया और न्हें भागकर जबलपुर में राय वंशीधर का आश्रय लेना पड़ा। यहीं राय देवीप्रसाद का जन्म मार्गशीर्षकृष्ण १३ संवत् १९२५ को हुआ था। लड़कपन में ही पिता का स्वर्गवास हो जाने के कारण इनके चाचा राय लीलाधर ने इनका लालन-पालन किया और पढ़ाया-लिखाया। इसी से इनकी शिक्षा मध्यप्रदेश में हुई। जहाँ से इन्होंने बी० ए० पास किया और फिर वकालत की एल-एल० बी० परीक्षा में सफल होने पर कुछ दिन जबलपुर में वकालत की और तब कानपुर में आ बसे। यहाँ इन्हें वकालत में अच्छी सफलता मिली। इनका दीवानी कानून का ज्ञान बहुत बढ़ा-चढ़ा था अतएव ये विशेषकर दीवानी मुकदमों को अपने हाथ में लेते थे। कई बड़े टेढ़े मुकदमों को इन्होंने जीता था। इससे इनकी विशेष प्रसिद्धि हुई और जनता में इनका मान बढ़ा। ये सार्वजनिक कामों में

बड़े उत्साह के साथ बराबर भाग लेते थे। कानपुर में कोई ऐसा बड़ा सार्वजनिक आयोजन न होता था जिसके ये प्रमुख कार्यकर्ता न होते थे।

इन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया था। वेदांत के अध्ययन में आपकी विशेष अभिरुचि थी। हिंदी कविता का आपने अच्छा अध्ययन किया था और वे बहुत शीघ्र सुन्दर कविता कर लेते थे। ये सिद्धहस्त कवि और साहित्य के ज्ञाता थे। इस संबंध में इनके यहाँ प्रति-सप्ताह कवियों का समाज लगता था। इसी संबंध में न्होंने रसिकवाटिका नाम की मासिक पत्रिका निकाली थी। फुटकर कविताओं के अतिरिक्त इनके दो ग्रंथ हिंदी-जगत् में प्रसिद्ध हैं—एक तो चंद्रकला भानुकुमार नाटक और दूसरा धाराधर-धावन। नाटक में अभिनयात्मक गुणों का अभाव होने के कारण उसका विशेष प्रचार न हो सका। पर उसकी भाषा बड़ी ही ललित और अलंकृत है और बीच-बीच में मधुर पद्यों ने उसे साहित्य का एक अमूल्य रत्न बना दिया है। इस नाटक का आरंभ जबलपुर में हुआ था, पर वह पूरा हुआ कानपुर में। धाराधरधावन कालिदास के मेघदूत का अनुवाद है। यह अनुवाद बड़ा ही सुन्दर हुआ है। इससे इनके साहित्य-ज्ञान तथा व्रजभाषा पर विशेष अधिकार का परिचय मिलता है। इनकी अनुप्रास-प्रियता तो इसके नामकरण से ही स्पष्ट है।

ये बड़े धर्म्मभीरु पुरुष थे। सनातनधर्म में इनकी विशेष निष्ठा थी। इसी के प्रचार और समर्थन के निमित्त इन्होंने एक संस्था भी स्थापित कर रक्खी थी और धर्मकुसुमाकर नामक एक मासिक पत्र भी निकालते थे। ये थिओसाफिकल सुसाइटी के सदस्य भी थे।

ये वक्तृता देने में बड़े पटु थे। ये समय-समय पर हास्य-रस-पूर्ण पर तर्क-संगत और युक्तियुक्त वक्तृता देकर श्रोताओं को मुग्ध कर लेते थे। ये बड़े ही सरल स्वभाव के प्रेमी जन थे। आपका देहांत ३० जून सन् १९१५ को कानपुर में हुआ।

(४१) ठाकुर गदाधरसिंह

ठाकुर गदाधरसिंह का संबंध चंदेरी-कन्नौज-राजवंश से था। ये चंदेल क्षत्रिय थे। जब मुगलों ने आगरे को राजधानी बनाया तब इनके पूर्व-पुरुष कन्नौज छोड़कर शिवराजपुर आ बसे। शिवराजपुर से यथासमय तीन राजकुमार गंगागंज, सचेंड़ी और वेनौर आ बसे। सचेंड़ी कानपुर से १३ मील कालपी की सड़क पर है। यहाँ पर उन लोगों ने एक किला बनवाया जिसके खँडहर अब तक वर्तमान हैं। सचेंड़ी शतचंडी का अपभ्रंश है। इनके पूर्वपुरुषों ने यहाँ सौ बेर चंडी की आराधना की थी इसी से यह नाम पड़ा। इनके पूर्वपुरुषों का पेशा सिपाहगरी था। ये लोग पहले सवारी मनसबदार थे। अब अँगरेजी सैनिक सेवा में ठाकुर साहब तीसरी पीढ़ी में थे। इनके पिता का नाम ठाकुर दरियावसिंह सर्दारबहादुर था। ये बंगाल की पाँचवीं नेटिव इंफैंट्री में सूबेदार थे। सन् १८३४ ई० में ये सेना में भरती हुए और १८७८ में पेंशन ली। इस ४४ वर्ष की सेवा में इन्होंने काबुल, कंधार, मुदकी, गजनी, फीरोजशहर, सुबराँव, सौताल आदि लड़ाइयों में काम किया। सन् ५७ के बलवे के समय ये घर पर छुट्टी लेकर आए हुए थे। अपनी सरकार पर आपदा देख कर घर पर न रह सके। चट अपनी पल्टन को लौट गए। इस समय इनको बागी होने के अनेक प्रलोभन दिए गए, पर ये अपने स्वामिव्रत पर दृढ़ रहे। सन् १८६९ ईसवी में इनकी

पल्टन बनारस में थी। वहीं उस वर्ष के अक्टूबर मास में ठाकुर गदाधरसिंह का जन्म हुआ। यद्यपि इनके पिता वैष्णव और कृष्णोपासक थे परंतु उस समय स्वामी दयानंद सरस्वती की पुस्तकें इनके हाथों लग गई थीं और वे उन्हें बड़े अनुराग से पढ़ते थे। इसका प्रभाव बालक गदाधरसिंह पर बहुत पड़ा। इनकी माता भी लिखी-पढ़ी थीं। बाल्यावस्था में शिक्षा घर ही पर माता तथा एक मास्टर-द्वारा हुई। इन मास्टर साहब को तुलसीकृत रामायण पढ़ने का बड़ा अनुराग था। बालक गदाधरसिंह भी दो घंटे इनके साथ रामायण पढ़ते। पिता की इच्छा थी कि हमारा पुत्र सिपाही हो। अतएव १७ वर्ष की अवस्था में एंट्रेंस तक पढ़कर ठाकुर गदाधरसिंह अपने पिता की पल्टन में भरती हो गए। सेवा के पहले वर्ष (१८८८ ई०) में ये ब्रह्मा की लड़ाई पर गए। वहाँ इन्होंने सेना-संबंधी सब प्रकार का काम किया। वहाँ से लौटने पर ये अपनी सेना के दफ्तर में काम करने लगे। सन् १८९४ ईसवी में जब बंगाल की पल्टनों में जातनामा हुआ तब ये सोलहवीं राजपूत पल्टन में बदल गए और वहाँ स्कूलमास्टरी का काम करने लगे। सन् १८९६ ईसवी में ये सातवीं राजपूत पल्टन में बदल गए।

सन् १९००-०१ में अपनी पल्टन के साथ चीन की लड़ाई पर गए जिसका मनोहर वर्णन इन्होंने अपनी "चीन में तेरह मास" नाम की पुस्तक में किया है। फिर महाराज एडवर्ड के तिलकोत्सव के समय इन्हें इँगलैंड जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस यात्रा का वर्णन इन्होंने "हमारी एडवर्ड तिलक-यात्रा" नाम की पुस्तक में किया है। सेना-विभाग में २० वर्ष सेवा करके इन्होंने अनएटाचर्डलिस्ट में तबदीली करा ली और तब संयुक्त-प्रदेश के डाक-विभाग में काम करने लगे।

सेना में इनका पद सूबेदार का था। इनका देहांत २५ अक्टूबर सन् १९२० को हुआ।

स्वामी दयानंद सरस्वती के ग्रंथों को इन्होंने खूब पढ़ा था और उनके अनुयायी थे। इनकी दो बहिनें हैं। वे भी पढ़ी-लिखी हैं। बड़ी बहन ने तो अनेक वर्षों तक "बनिताहितैषी" नाम का मासिक पत्र निकाला था।

ठाकुर गदाधरसिंह का तीसरा ग्रंथ रूस-जापान-युद्ध पर है जो दो भागों में छपा है। इनके ग्रंथों में एक विशेषता है। वे बड़े ही मनोरंजक और उत्साह-वर्द्धक हैं और जगह-जगह पर मीठी चुटकियाँ लेना तो मानो इन्हीं के हिस्से में था। आधुनिक काल में यात्रा-संबंधी पुस्तकों के लेखकों में ठाकुर साहब का प्रमुख स्थान है। ऐसा मनोहर यात्रावर्णन अभी तक नहीं लिखा गया है।

आपका स्वभाव बड़ा ही मिलनसार और नम्र था और देश-सेवा का रंग तो मानो नस-नस में भरा हुआ था।

(४२) पंडित गंगाप्रसाद अग्निहोत्री

पंडित गंगाप्रसाद अग्निहोत्री के पूर्वज रायबरेली जिले के चव्हात्तर नामक ग्राम के निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके पितामह का मध्यप्रदेश से कुछ व्यावसायिक संबंध हो गया था इसलिये ये लोग वहीं रहते थे। बीच-बीच में आवश्यकता पड़ने पर स्वदेश भी आ जाया करते थे। इनके पिता पंडित लक्ष्मणप्रसाद जी अग्निहोत्री नागपुर में रेशमी कपड़ों का व्यवसाय करते थे जिसमें उन्होंने अच्छा धनोपार्जन भी किया था। उनके दो विवाह हुए थे। पहली स्त्री से दो पुत्र तथा दूसरी स्त्री से तीन पुत्र और तीन कन्याएँ हुईं। पंडित

लक्ष्मणप्रसाद विद्वान् तो नहीं, पर भगवद्भक्त बहुत थे। सन् १८५७ के गदर के समय जब ये एक बेर सपरिवार बैलगाड़ी पर स्वदेश जा रहे थे तब मार्ग में सरकारी कर्मचारियों ने इन्हें बागी समझकर पकड़ लिया था पर अंत में उनकी भगवद्भक्ति के कारण ही उनको निर्दोष समझकर छोड़ दिया और ऐसा प्रबन्ध कर दिया जिसमें फिर उन्हें वैसा कष्ट न हो।

पंडित गंगाप्रसाद अग्निहोत्री का जन्म नागपुर में संवत् १९२७ की श्रावणकृष्णा ७ को हुआ। ९ वर्ष की अवस्था में इनकी माता का देहांत हो गया। उस समय इनका तथा इनके एक छोटे भाई और बहन का पालन-पोषण इनकी फुफेरी भावज ने किया। ७ वर्ष की अवस्था में ये नागपुर में एक पुराने ढंग की पाठशाला में बैठाए गए थे जहाँ न्होंने गिनती और नागरी-लिपि सीखी। वहाँ की शिक्षा समाप्त होने पर मराठी शिक्षा के लिये ये दूसरी पाठशाला में बैठाए गए। पहले-पहल तो इनके सहपाठी इनके पढ़ने की हँसी उड़ाते थे पर थोड़े ही दिनों में ये उन्हीं लोगों के शिक्षक बन गए। उस समय अंकगणित में ये बहुत प्रवीण थे किंतु इनकी शिक्षा का यथोचित प्रबंध नहीं किया गया। उसी समय ये बहुत बीमार पड़ गए और जब कई मास पीछे अच्छे हुए तो पिता जी ने इन्हें अपनी दूकान पर बही-खाता लिखने के लिये बैठा लिया। बही लिखने और ब्याज फैलाने के काम में भी ये बहुत चतुर थे। उस समय इनके पिता ने अपने एक मित्र की सम्मति से अँगरेजी पढ़ने के लिये मिशन स्कूल में इन्हें भर्ती करा दिया, जहाँ इन्होंने अपर प्राइमरी तक की शिक्षा समाप्त की। इसके अनंतर एक दूसरे मिशन स्कूल में सन् १८८८ में इन्होंने मिडिल पास किया। उस समय इनकी दूसरी भाषा मराठी

थी। एंट्रेंस में पहुँचकर इन्होंने दूसरी भाषा संस्कृत ली, उसी समय इन्होंने अपने मुहल्ले के दो पंडितों से लघुकौमुदी और रघुवंश का अध्ययन किया। उन दिनों स्कूल में प्रकांड पंडित लिंगाराजेश्वर बी० ए०, बी० एल०, एक्स्ट्रा असिस्टेंट कमिश्नर और खाँसाहब अब्दुलअजीज खाँ, बी० ए०, ओरिएंटल ट्रांसलेटर इनके सहपाठी और स्नेही थे। अस्तु, ये एंट्रेंस परीक्षा में उत्तीर्ण न हो सके। इधर इनके पिता का कारबार भी कुछ मंदा पड़ गया। बस इनकी शिक्षा यहीं समाप्त हो गई।

सन् १८९२ में ये वर्धा गए और बाबू जगन्नाथप्रसाद तत्कालीन असिस्टेंट सेटिलमेंट आफिसर से मिले। वहाँ इन्हें नकलनवीस की जगह मिल गई, साथ ही बाबूसाहब ने इन्हें अपने पुस्तकालय की पुस्तकें देखने को भी आज्ञा दे दी। वहीं से इनके हिंदी-अभ्यास की वृद्धि हुई। वहाँ उन्होंने उक्त बाबूसाहब को छन्दःप्रभाकर के संशोधन में भी अच्छी सहायता दी थी। उस संबंध में इन्हें प्रायः छः मास तक काशी के भारतजीवन यंत्रालय में रहना पड़ा था। भारत-जीवन के तत्कालीन संपादक बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री के परामर्श से इन्होंने नागपुर लौटकर चिपलूणकर शास्त्री की निबंधमाला में से समालोचना शीर्षक निबंध का अनुवाद करके नागरी-प्रचारिणी पत्रिका के पहले वर्ष के पहले अंक में छपवाया। इसके अनंतर इन्होंने शास्त्री जी के अन्य निबंधों का भी अनुवाद कर डाला। उसी अवसर पर इन्होंने प्रणयीमाधव का भी अनुवाद किया। सन् १८९४ के आरंभ में इन्हें जूनियर चेकर का पद मिला। सन् १८९५ में इन्होंने मराठी के राष्ट्रभाषा नामक लेख का हिंदी-अनुवाद किया। इसके पीछे आपने और भी अनेक ग्रंथ लिखे और अनुवाद किए जिनमें

से संस्कृत कविपंचक, मेघदूत, निबंधमालादर्श, डाक्टर जानसन की जीवनी (अप्रकाशित) और नर्मदाविहार मुख्य हैं। इनकी अधिकांश पुस्तकों की हिंदी के अच्छे अच्छे विद्वानों ने सराहना की है। प्रयाग में द्वितीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर भी इन्होंने "मध्य-प्रदेश में हिंदी की अवस्था" शीर्षक एक लेख भेजा था।

इनका विवाह संवत् १९४४ में हुआ था। इनकी पहली स्त्री शिक्षिता थी। उससे इन्हें एक पुत्र उत्पन्न हुआ। संवत् १९५५ में उस स्त्री का देहांत हो गया। उसके तीन वर्ष अनंतर इनके प्रथम पुत्र की भी मृत्यु हो गई। संवत् १९५७ में इनके पिता ने इनका दूसरा विवाह कर दिया था। दूसरी स्त्री से भी इन्हें एक पुत्र और एक कन्या हुई किंतु वह भी एक वर्ष से अधिक न ठहरी।

सन् १९०८ में ये मध्यप्रदेश की सरकार की ओर से छुई-खदान रियासत का प्रबंध करने के लिये भेजे गए थे। वहाँ इन्होंने अच्छी योग्यता से काम किया। जून सन् १९१२ से ये कोरिया रियासत के असिस्टेंट सुपरिंटेंडेंट या नायब दीवान बनाए गए। इस प्रकार अनेक स्थानों में सेवा कर इन्होंने अंत में गोवंश के रक्षण और पालन की ओर ध्यान दिया। इनका देहांत संवत् १९८८ में हुआ। आपने कविपंचक के अनुवाद को हिंदी में प्रकाशित करके उस प्रकार की समालोचना का पथप्रदर्शन किया है।

(४३) पंडित माधवराव सप्रे, बी० ए०

अपनी मातृभाषा से प्रेम रखना और उसकी उन्नति के लिये प्रयत्न करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। जो लोग किसी प्रकार अपनी मातृभाषा की सेवा करते हैं वे मानों अपना कर्तव्य-पालन करते हैं, पर जो

लोग अपनी मातृभाषा के साथ ही साथ अन्य भाषा की सेवा करते हैं और सदा उसकी उन्नति में दत्तचित्त रहते हैं, वे अवश्य ही धन्य हैं और उस भाषा के सेवियों के धन्यवाद के पात्र हैं। पंडित माधवराव सप्रे की गणना ऐसे ही सज्जनों में है।

पंडित माधवराव सप्रे का जन्म मध्यप्रदेश के दमोह जिले में हट्टा नामक एक तहसील के अंतर्गत पथरिया गाँव में १९ जून सन् १८७१ को हुआ था। आपके पिता का नाम कोंडेश्वर तथा माता का नाम लक्ष्मीबाई था। आपके चार बड़े भाई और तीन बहिनें थीं। उनमें से तीन भाइयों और दो बहिनों का देहांत हो गया है।

सप्रे जी चार वर्ष की अवस्था में अपने माता-पिता के साथ अपनी मातृभूमि को छोड़कर बिलासपुर (मध्य प्रदेश) आए थे। वहीं उनकी हिंदी की शिक्षा आरंभ हुई। आठ-नौ वर्ष की अवस्था में उनके पिता का देहांत हो गया। सन् १८८७ ई० में अँगरेजी पढ़ने के लिये ये स्कूल में भरती किए गए। कुछ समय पीछे इन्होंने मिडिल पास करके छात्र-वृत्ति प्राप्त की। इसके अनंतर रायपुर के हाई स्कूल में ये पढ़ने लगे। उस समय श्रीयुत रामराव राजाराम चिंचोलकर इनके सहपाठी और परममित्र थे। उद्यानमालिनी, शकुंतला, उत्तररामचरित आदि के कर्त्ता पंडित नंदलाल दूबे और मराठी "काव्यसंग्रह" के संपादक श्रीयुत वामन दाजी ओक इनके शिक्षक थे और उन्हीं लोगों के संसर्ग से इनके हृदय में भी साहित्य-प्रेम उत्पन्न हुआ। सन् १८८९ ई० में इनका विवाह हुआ। दूसरे वर्ष इन्होंने एंट्रेंस परीक्षा पास की और छात्रवृत्ति प्राप्त करके ये जबलपुर कालेज में पढ़ने लगे। इसी वर्ष इनकी माता का देहांत हो गया। उस समय ये स्वयं भी बहुत बीमार पड़े और इसी कारण कुछ काल तक पढ़ना-लिखना भी छूट गया। अच्छे होने पर ये अपने बड़े भाई

पंडित बापूराव के पास, जो पेंडरा में तहसीलदार थे, चले गए और पब्लिक वर्क्स तथा रेलवे में ठेकेदारी का काम करने लगे। पर यह काम इनकी रुचि के अनुकूल न था इससे इन्हें उसमें हानि हुई। इस काम को छोड़कर जुलाई सन् १८९४ में ये लश्कर (ग्वालियर) में एफ० ए० क्लास में भरती हो गए। एफ० ए० पास करने के अनंतर इन्हें अपनी स्त्री की रुग्णता के कारण कांकेर जाना पड़ा। यहाँ से ये नागपुर गए और वहाँ बी० ए० क्लास में भरती हो गए। सन् १८९७ में इनकी स्त्री का देहांत हो गया। दूसरे वर्ष इन्होंने बी० ए० की परीक्षा पास की। बस यहीं अपनी पढ़ाई समाप्त कर सप्रे जी हिंदी की ओर झुके और उसके अच्छे-अच्छे ग्रंथ पढ़ने लगे। उसी वर्ष इनका दूसरा विवाह हो गया और कुछ दिनों पीछे ये पेंडरा के राजकुमार के शिक्षक नियुक्त हो गए। सन् १९०० में वहीं से इन्होंने "छत्तीसगढ़ मित्र" नामक मासिक पत्र निकालना आरंभ किया। लगभग तीन वर्षों तक यह अच्छी तरह चलता रहा, पर अंत में अर्थाभाव के कारण बंद हो गया। 'मित्र' ने पुस्तकों की समालोचना करने में अच्छा नाम पाया था। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा का पहला डेपुटेशन जब सभाभवन के लिये रुपया इकट्ठा करने के उद्देश्य से निकला था तब ये भी अपने मित्र पंडित रमराव राजाराम चिंचोलकर के साथ ही संयुक्त-प्रदेश के कई स्थानों में घूमे थे। इस डेपुटेशन ने धन एकत्र करने में अच्छी सफलता प्राप्त की थी। जब काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा "वैज्ञानिक कोष" के बनवाने में लगी हुई थी उस समय सप्रे जी ने अर्थ-शास्त्र के शब्दों का संग्रह उसके लिये किया था तथा "वैज्ञानिक कोष" के संबंध में बड़े बड़े विद्वानों की सम्मति और सहायता प्राप्त करने के लिये पूना और बंबई गए थे।

सन् १९०९ ई० में सप्रे जी नागपुर के देशसेवक प्रेस के मैनेजर नियत हुए। उस समय इन्होंने "हिंदी-ग्रंथ-माला" का प्रकाशन आरंभ किया। इस माला में स्वाधीनता, महारानी लक्ष्मीबाई, स्वदेशी आंदोलन और बायकाट, निबंधसंग्रह, शिक्षा आदि बहुत ही उत्तम और समयोचित ग्रंथ निकले थे। उस समय इन्होंने अपने कई मित्रों की सहायता से पंडित बाल गंगाधर तिलक के "केसरी" पत्र का भाषांतर साप्ताहिक "हिंदी-केसरी" निकालना आरंभ किया। हिंदी-केसरी निकलने के कुछ काल पीछे ग्रंथमाला बंद हो गई। हिंदी-केसरी प्रारंभ से ही बड़ी धूम-धाम से निकला और खूब चल पड़ा, पर थोड़े ही दिनों में उसे ब्रिटिश सरकार का कोपभाजन बनना पड़ा। केसरी पर मुकदमा चला, सप्रे जी पकड़े गए और कई मासों तक घोर आपत्ति झेलते रहे। अंत में कई मित्रों के अनुरोध से इन्होंने सरकार से क्षमा माँग ली और पत्र निकालना बंद कर दिया। इस दुर्घटना से सप्रे जी का मन बहुत खिन्न हो गया। अंत में एक संसार-त्यागी महात्मा की कृपा से इन्हें शांति मिली। तब से एक प्रकार से संसार से अलग हो ये रायपुर में एकांतवास करते रहे। पर इस अवस्था में भी हिंदी को नहीं भूले वरन उसकी सेवा में लगे रहे। इन्होंने हिंदी-दास-बोध, रामदास स्वामी की जीवनी, आत्मविद्या, एकनाथ-चरित्र, भारतीय युद्ध, गीतारहस्य आदि अनेक ग्रंथ लिखे हैं जिनमें से कुछ प्रकाशित भी हो चुके हैं। सप्रे जी प्रायः मासिक पत्रों में लेख लिखते रहे। इसके अतिरिक्त ये रायपुर के कई सार्वजनिक कार्यों में भी योग देते रहे। वहाँ ये स्वयं विद्यार्थियों को पढ़ाते थे। एक कन्या-पाठशाला भी इन्होंने खोल रक्खी थी। भजन, कीर्त्तन और कथा के द्वारा ये नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा का भी प्रचार करते थे। १४ जुलाई १९११ को इनकी दूसरी स्त्री का

भी देहांत हो गया। इस स्त्री से इन्हें धार्मिक और परोपकारी कार्यों में बहुत सहायता मिलती थी।

सप्रे जी बड़े ही सरल, शांत, मिष्टभाषी और साधुचरित थे। इनका स्वभाव बहुत मिलनसार और नम्र था। अंत के दिनों में वे तपस्वियों की भाँति जीवन व्यतीत करते रहे। देहरादून के हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के ये सभापति हुए थे। सप्रे जी का देहांत संवत् १९८८ में हुआ। इनके जैसा हिंदी का प्रेमी और साहित्य-सेवी दूसरा मिलना कठिन है। इन्होंने जो ध्येय अपने सामने रखा था उसका निर्वाह अनेक कष्ट और यंत्रणा सहने पर भी आजन्म किया।

(४४) पंडित माधवप्रसाद मिश्र

पंडित माधवप्रसाद मिश्र के पितामह पंडित जयरामदास पंजाब-प्रदेश के हिसार जिले में भिवानी के समीप कूंगड़ ग्राम के रहनेवाले थे। इनके पुत्र पंडित रामजीदास जी हुए। दोनों पिता-पुत्र संस्कृत के प्रख्यात विद्वान् थे। हरियाना-प्रांत और कुरुक्षेत्र में उनके पांडित्य की विशेष प्रतिष्ठा थी। इन्हीं रामजीदास के दो पुत्र हुए—एक हमारे चरितनायक पंडित माधवप्रसाद जी और दूसरे पंडित राधाकृष्ण जी। पंडित माधव-प्रसाद का जन्म कूंगड़ ग्राम में संवत् १९२८ के भाद्रमास की शुक्ला त्रयो-दशी को हुआ। भिवानी के एक क्षमताशाली मारवाड़ी महोदय के विशेष आग्रह से पंडित जयरामदास भिवानी में बस गए थे, पर कूंगड़ ग्राम से उनका संबंध न छूटा।

पंडित माधवप्रसाद ने आरंभ में शिक्षा अपने पिता से ही पाई। वे पढ़ने-लिखने में बड़े तेज थे पर साथ ही बालसुलभ उत्पातों की भी कमी न थी। इनकी दादी भी पढ़ी-लिखी और हरिभक्ति-परायणा साध्वी

स्त्री थीं। उनके चरित्र का प्रभाव पंडित माधवप्रसाद पर बहुत कुछ पड़ा और उन्होंने पुराण और इतिहासों की कथा सुन-सुनकर बहुत ज्ञान और धर्मभीरुता का भाव ग्रहण किया। अपने पिता से इन्होंने व्याकरण, काव्य, पुराण एवं धर्मशास्त्रादि की शिक्षा प्राप्त की। इसके अनंतर बुलंदशहर के प्रख्यात पंडित श्रीधर जी से पढ़ा और अंत में काशी आकर महामहोपाध्याय पंडित राममिश्र शास्त्री से आयुर्वेदीय, दर्शनशास्त्र और पंडित उमापति से साहित्य का पूर्ण अध्ययन किया। इसी बीच में आपने उर्दू, बँगला, मराठी, गुजराती और पंजाबी का अच्छा ज्ञान अपने अध्यवसाय से प्राप्त कर लिया। यह क्रम २५ वर्ष की अवस्था तक बना रहा। इसके अनंतर ये कार्यक्षेत्र में उतर पड़े। इस क्षेत्र में उनकी जीवनधारा तीन धाराओं में प्रवाहित हुई—धर्म, देश और साहित्य।

साहित्य-कार्य में उन्होंने बाबू देवकीनन्दन खत्री के सहयोग से सन् १९०० में "सुदर्शन" नामक मासिक पत्र निकाला था। यह २ वर्ष ४ महीना चलकर बंद हो गया। इसके बंद होने का कारण ग्राहकों का अभाव या आर्थिक संकट न था बल्कि मिश्र जी के अनेक कार्यों में लिप्त हो जाने के कारण वे जितना समय उसके संपादन-कार्य के लिये देना चाहिए उतना दे नहीं सकते थे। इस सुदर्शन-द्वारा उन्होंने ऐसे सुंदर निबंध लिखे कि जिनकी जोड़ के लेख उस समय तो मिलने दुर्लभ थे। जैसा इसमें पांडित्य का प्रतिबिंब झलकता है वैसे परिमार्जित, प्रांजल और पुष्ट भाषा के दर्शन भी होते थे। मिश्र जी ने कोई ६० से ऊपर लेख लिखे थे, जिनमें सबसे अधिक जीवनचरित थे। इनमें विशुद्ध चरितावली तो आदर्शरूप मानी जा सकती है पर दुःख का विषय है कि वह अधूरी ही रह गई। हिंदुओं के पर्वों या त्योहारों पर उन्होंने ८ लेख लिखे थे जो बड़े ही सुंदर और मार्मिक हैं। ये लेख श्रीपंचमी, होली, रामलीला,

व्यासपूजा, नवीन वर्षोत्सव, कुंभपर्व, श्रावण के त्योहार और विजया-दशमी के संबंध में लिखे गए हैं। इसके साथ उनके ७ तीर्थस्थानों तथा यात्राओं के वर्णन बड़े ही मनोहर तथा सुंदर हुए हैं। इनके सब लेखों का संग्रह छप गया है। इनकी समालोचनाएँ भी बड़ी निर्भीक पर शिष्ट होती थीं। उन्होंने वैश्योपकारक पत्र का भी कोई दो वर्ष तक संपादन किया था।

इसी प्रकार धर्मपक्ष में वे सनातनधर्म के पूर्ण पक्षपाती थे। उसके अपमान या निंदा को वे सह नहीं सकते थे। भारतधर्ममहामंडल के उत्थान और उन्नति में उन्होंने पंडित दीनदयालु शर्मा का सहयोग किया था, पर पीछे मतभेद हो जाने के कारण वे उसके विरुद्ध हो गए। समाज-सेवा करने में कभी पराङ्मुख नहीं हुए। उन्होंने कलकत्ते के विशुद्धा-नंद सरस्वती विद्यालय की स्थापना में पूरा उद्योग किया था तथा मार-वाड़ियों की कई सामाजिक कुरीतियों को दूर करने में प्रशंसनीय सफलता प्राप्त की थी।

पंडित जी का स्वभाव दृढ़, मिलनसार और निर्पेक्ष था। मित्रता का नाता वे सदा निबाहते थे पर अपने सिद्धांतों से कभी गिरते न थे। इन्होंने हिंदी तथा संस्कृत में पद्य-रचना भी की है, पर वह अभी पुस्त-काकार रूप में प्रकाशित नहीं हुई है।

मिश्र जी का देहावसान संवत् १९६४ में चैत्र बदी ४ को कूंगड़ ग्राम में हुआ। इस ३६ वर्ष की आयु में से २५ वर्ष तो अध्ययन में निकल गए और देश की सेवा में वे केवल ११ वर्ष लगे रहे। पर इसमें भी इन्होंने वह कार्य किया जो अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। हिंदी-साहित्य में पंडित जी ने उच्च कोटि के निबंध लिखकर उसके एक बड़े अभाव की पूर्ति की।

(४५) पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी

पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी के पूर्वज आगरा जिले के मईथान के रहनेवाले माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण थे, पर व्यापार-संबंध में वे बंगाल में जा बसे थे। इनके पिता पंडित कालीप्रसाद का स्वर्गवास संवत् १९३४ में हो गया। पंडित जगन्नाथप्रसाद का जन्म संवत् १९३२ की आश्विनशुक्ला १० को नदिया जिले के छिटका गाँव में हुआ था। जब ये छः महीने के थे तब इनके मामा पंडित बलदेवप्रसाद पाण्डेय इन्हें अपने यहाँ मलयपुर (मुंगेर) ले गए थे। वहाँ देहात में इनकी शिक्षा का यथोचित प्रबन्ध न हो सका। तेरह वर्ष की अवस्था में इन्होंने जमुई माइनर स्कूल में नाम लिखाया। तीव्रबुद्धि होने के कारण उन्होंने थोड़े ही दिनों में पढ़ाई में अच्छी उन्नति कर ली। सन् १९६८ में कलकत्ते के मेट्रापालिटन इंस्टीटचूट से एंट्रेंस परीक्षा पास की। एफ० ए० की परीक्षा में ये उत्तीर्ण न हो सके इसलिए कालेज छोड़ बैठे। इस समय बाबू बालमुकुंद गुप्त से घनिष्ठता हो जाने के कारण ये हिंदी की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुए। यद्यपि इनके हृदय में हिंदी का प्रेम उसी समय उत्पन्न हो गया था जब ये अभी छात्रावस्था में थे। इन्होंने भारतमित्र में लेख लिखना आरंभ किया और संसार-चक्र नामक एक उपन्यास लिखा।

संवत् १९५९ में अपने मामा के साथ चपड़े का काम देखने लगे परंतु दूसरे ही वर्ष ये हितवार्ता के सहकारी संपादक हो गए। यहाँ ये केवल चार महीना रह सके और फिर चपड़े की दलाली करने लगे।

पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी हिंदी की निःस्वार्थ सेवा बड़ी लगन के साथ करते थे। गद्य और पद्य दोनों में आपकी रचनाएँ अनेक

पत्र-पत्रिकाओं में छपती रहीं। ये हास्यरस के मूर्तिमान् अवतार माने जाते थे। इनकी वक्तृताओं तथा लेखों में व्यंग्य और हास्य का अच्छा पुट रहता था।

ये हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के लाहौरवाले अधिवेशन के तथा प्रथम बिहार प्रादेशिक हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति हुए थे। इनके रचित ये ग्रंथ हैं—वसंतमालती, संसारचक्र, तूफान, विचित्र विचरण, भारत की वर्तमान दशा, स्वदेशीआंदोलन, गद्य-पद्य-माला, निरंकुशतानिदर्शन, कृष्णचरित, राष्ट्रीय गीत, अनुप्रास का अन्वेषण, सिंहावलोकन, हिंदी-लिंग-विचार, मधुर मिलन, निबंध निहचय।

इनके लेखों में इनकी हास्यमूर्त्ति का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। ये हिंदी के अनन्य भक्त, निस्स्वार्थ सेवक और परिश्रमी उन्नायक थे। इनकी भाषा रसीली और मन में चुभ जानेवाली होती थी।

२ सितंबर १९३९ (संवत् १९९६) को इनका देहांत मलयपुर में हुआ।

(४६) पंडित पद्मसिंह शर्मा

पंडित पद्मसिंह शर्मा के पिता उमरावसिंह जी बिजनौर जिले के नगवा नामक गाँव के मुखिया, नंबरदार और प्रभावशाली प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। इनके यहाँ जमींदारी और काश्तकारी होती थी। इनके पिता राब का व्यवसाय तथा लेन-देन का काम करते थे। ये जाति के भूमिहार ब्राह्मण थे। पंडित पद्मसिंह का जन्म संवत् १९३३ की फाल्गुन सुदि १२ को हुआ था।

दस-ग्यारह वर्ष की आयु में पिता जी ने अक्षरारंभ कराया। तदनंतर कई वर्ष घर पर रहकर पंडितों-द्वारा संस्कृत में सारस्वत,

कौमुदी, रघुवंश आदि ग्रंथों का अध्ययन किया। इसके अनंतर कुछ दिनों तक पंडित भीमसेन शर्म्मा की पाठशाला में अष्टाध्यायी का अध्ययन किया। वहाँ से काशी जाकर अध्ययन करते रहे। इसके अनंतर मुरादाबाद, लाहौर, जालंधर, ताजपुर आदि स्थानों में रहकर अध्ययन किया। बीच-बीच में घर पर रहकर उर्दू, फारसी का अभ्यास एक मुंशी और दूसरे मौलवी से किया।

यों विद्याभ्यास तो उन्होंने अनेक स्थानों में किया, पर वास्तविक विद्या का उपार्जन अपने अध्यवसाय से घर पर किया। उन्हें पुस्तकों के संग्रह करने और उनके ध्यानपूर्वक अध्ययन का व्यसन-सा था। संस्कृत के अतिरिक्त उर्दू और फारसी का उन्होंने विशेष अध्ययन किया था और उसका प्रभाव उनकी हिंदीशैली पर विशेष रूप से पड़ा।

संवत् १९६१ में वे संयुक्त-प्रांत की आर्य्यप्रतिनिधि सभा के उपदेशक नियत हुए। कांगड़ी में गुरुकुल खुलने पर महात्मा मुंशीराम (पश्चात् स्वामी श्रद्धानन्द) ने उन्हें अपने पास बुला लिया। उस समय महात्मा मुंशीराम ने सत्यवादी नाम का साप्ताहिक पत्र पंडित इन्द्रदत्त शर्म्मा के संपादकत्व में निकाला था जिसके संपादन-विभाग में पंडित पद्मसिंह भी काम करने लगे। यहीं से मानो उनके संपादन तथा लेखन-कला का श्रीगणेश हुआ। संवत् १९६५ में आप अजमेर गए और वहाँ परोपकारी तथा अनाथरक्षक का संपादन करते रहे। यहाँ लगभग एक वर्ष रहकर आप ज्वालापुर के महाविद्यालय में आ गए और ८ वर्ष तक यहाँ काम करते रहे। संवत् १९७४ में उनके पिता का देहांत हो गया और ये ज्वालापुर की नौकरी छोड़कर घर चले आए। एक वर्ष के अनंतर ये काशी के ज्ञानमण्डल कार्यालय के पुस्तक-प्रकाशन-विभाग में कार्य करने के लिये आए। यहीं उनकी विहारी-

सतसई के भूमिका-भाग का प्रकाशन हुआ। इसी समय सतसई-संहार पर इनकी लेखावली सरस्वती में निकलने लगी और वर्ष भर तक निकलती रही। इससे इनकी बहुत प्रसिद्धि हुई। संवत् १९७७ में ये मुरादाबाद के प्रांतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति हुए। संवत् १९८० में हिंदी-साहित्य-सम्मेलन में सबसे पहले इन्हें विहारी-सतसई के तब तक प्रकाशित भाग पर मंगलाप्रसाद-पुरस्कार मिला। संवत् १९८५ में आप मुजफ्फरपुर के हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति हुए। संवत् १९८६ में इनका पद्म-पराग और प्रबंध-मंजरी प्रकाशित हुई। संवत् १९८९ में आपने प्रयाग की हिंदुस्तानी एकाडमी में हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी पर एक व्याख्यानमाला दी जिसे एकाडमी ने प्रकाशित किया है। सन् १९३२ की ७ अप्रैल को प्लेग की बीमारी से आपका देहावसान अपने ग्राम में हुआ।

पंडित पद्मसिंह शर्म्मा की लेखनशैली पर उर्दू-फारसी के अध्ययन तथा आर्य्यसमाजी होने का स्पष्ट प्रभाव देख पड़ता है। चुटीले व्यंग्य और मर्मभेदी कटाक्ष उनकी शैली की विशेषता है। अनेक स्थानों में पाठकों को इनसे विशेष आनन्द मिलता है, पर जहाँ-जहाँ ये कटाक्ष तथा व्यंग्य आवश्यकता बिना जोड़ दिए गए हैं वहाँ वे खटकते हैं। विहारी-सतसई में तो उनके प्रकांड पांडित्य का पूरा-पूरा आभास मिलता है। इसके द्वारा इन्होंने तारतम्यकात्मक आलोचना प्रणाली की नींव डाली। यह प्रणाली बहुत चली और इनकी शैली का प्रभाव विद्यार्थी-वर्ग पर इतना पड़ा कि बहुत-से उनके अनुयायी हो गए। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि आधुनिक काल में ये इस शैली के प्रवर्त्तक हुए।

इनका स्वभाव सरल, आडंबरहीन था और रहन-सहन बहुत सीधी-सादी थी। इनकी योग्यता, प्रतिभा, भावुकता और निरभिमानता को

सब मानते हैं। बातचीत में इनकी चुहलबाज़ी और मीठी चुटकियों का आनंद आता था।

(४७) मुंशी प्रेमचंद

मुंशी प्रेमचंद का जन्म काशी से चार-पाँच मील उत्तर पाँडेपुर नाम के एक गाँव में एक कायस्थ-परिवार में हुआ था। आपके पिता डाकखाने में क्लर्क थे और बीस रुपये मासिक वेतन पाते थे। मुंशी प्रेमचंद का असली नाम धनपतराय था। पिता के मरने के पहले ही पंद्रह साल की अवस्था में आपका विवाह हो गया था। पिता के मरने के पश्चात् आपके जीवन में बड़ी कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं। घर की अवस्था अच्छी न थी। आपकी रुचि पढ़ने की ओर थी पर उसके लिये साधन न था। आप पाँडेपुर से नित्य आते थे और काशी में पढ़ते थे और संध्या को फिर पाँच मील पैदल घर लौट जाते थे।

क्वींस कालेज से आपने एंट्रेंस परीक्षा पास की। कालेज में पढ़ने की बड़ी इच्छा थी। ट्यूशन किया करते थे और बड़ी कठिनाई से हिंदू कालेज में नाम लिखाया। किंतु गणित में कमजोर होने के कारण एफ० ए० पास न हो सके। कालेज छोड़कर मास्टरी कर ली। फिर आपने सरकारी शिक्षा-विभाग में नौकरी कर ली। पहले सब-डिप्टी-इंस्पेक्टर हुए। परंतु स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण आपने दौरे की नौकरी से अध्यापकी में बदली करा ली। नौकरी ही के समय आपने घर पर पढ़कर एफ० ए० और बी० ए० पास किया। सन् १९२० में असहयोग-आंदोलन में आपने सरकारी नौकरी छोड़ दी और साहित्य-सेवा की ओर लगे।

मुंशी प्रेमचंद जब विद्यार्थी थे तभी उपन्यास पढ़ने की ओर आपकी रुचि थी। उन्हीं दिनों आपने लखनऊ के प्रसिद्ध कहानी-लेखक पंडित रतननाथ दर का फिसानाआजाद और चंद्रकांतासंतति उर्दू में पढ़ी। बंकिम बाबू के ग्रंथों के उर्दू-अनुवाद भी आपने पढ़े। मुंशी जी उर्दू जानते थे और उर्दू के ही उपन्यास और कहानियाँ आपने पढ़ी थीं।

प्रेमचंद ने लिखना भी उसी समय आरंभ किया जब वे शिक्षा-विभाग में सब-डिप्टी इंस्पेक्टर थे। वे उर्दू में ही लिखते थे और लिखने का इनका नाम नवाबराय था जो धनपतराय का अनुवाद था। उसी से इन्हें लोग नवाब-नवाब के नाम से मरतेदम तक पुकारते रहे। संवत् १९५७ से इन्होंने लिखना आरंभ किया और १९५९ में पहला उपन्यास निकला और दूसरा १९६१ में। उन दिनों रवि बाबू की प्रतिभा चमक रही थी। उनकी कहानियाँ अँगरेजी में प्रेमचंद ने पढ़ीं और उनका अनुवाद उर्दू-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराया। इसके अनंतर इन्होंने मौलिक कहानियाँ भी लिखनी आरंभ कीं। उन दिनों कहानियों की इतनी बाढ़ न थी और उर्दू में तो प्रायः कहानी लिखने-वाले थे ही नहीं। इस प्रांत में उर्दू की दो अच्छी प्रसिद्ध पत्रिकाएँ निकलने लगी थीं। कानपुर से "जमाना" पहले से निकलता था, उसके पीछे इंडियन प्रेस से "अदीब" भी निकलने लगा था। नवाबराय की कहानियों से दोनों पत्रिकाएँ सुशोभित रहती थीं। इनकी पहली मौलिक कहानी संवत् १९६४ में जमाना में 'संसार का सबसे अनमोल रत्न' नाम से छपी थी।

संवत् १९६६ में चार-पाँच कहानियों का संग्रह 'सोजे वतन' नाम से जमाना-प्रेस से प्रकाशित हुआ। उन दिनों आप हमीरपुर जिले में सब-डिप्टी इंस्पेक्टर थे। ये कहानियाँ राष्ट्रीय भावनाओं से भरी थीं। उन दिनों

वंग-भंग के कारण देश में बहुत जागृति हो चली थी। कांग्रेस में गर्म-दल बन चुका था। इन्हीं का प्रभाव उन कहानियों पर था। जासूसी विभाग ने नवाबराय को ढूँढ़ निकाला और इनके पड़ाव पर परवाना पहुँचा। कलेक्टर ने बुलाकर प्रत्येक कहानी का अभिप्राय पूछा। यह कहा गया कि इनमें राजद्रोह है। सारी प्रतियाँ सरकार ने ले लीं और इन्हें आज्ञा हुई कि बिना आज्ञा के कुछ न लिखें। उसी समय से नवाबराय प्रेमचंद हो गए और सामाजिक कहानियाँ जमाना में लिखने लगे।

स्वास्थ्य के कारण जब आपने अपनी बदली करा ली तो आप बस्ती भेजे गए। वहाँ आपसे पंडित मन्नन द्विवेदी गजपुरी से भेंट हुई जो डोमरियागंज में तहसीलदार थे। उनके आग्रह से कुछ कहानियों का हिंदीरूपांतर आपने सरस्वती में छपवाया। हिंदी में आपकी कहानियाँ आरंभ से ही लोकप्रिय हुईं। उर्दू में आप पर्याप्त ख्याति पा चुके थे। भाषा मँज चुकी थी। बस्ती से आपकी बदली गोरखपुर हो गई। वहाँ आपका परिचय सेठ महावीरप्रसाद पोद्दार से हुआ जिनकी प्रेरणा से पहला उपन्यास 'सेवासदन' लिखा।

इसके पश्चात् तो प्रेमचंद की धूम मच गई। एक कहानी का संग्रह 'सप्तसरोज' प्रकाशित हुआ। ये कहानियाँ उर्दू में निकल चुकी थीं किंतु हिंदी-पाठकों के लिए नवीन वस्तु थीं। केवल इन्हीं दो पुस्तकों से प्रेमचंद ने हिंदी में अपना स्थान बना लिया। तब से जीवनपर्यंत प्रेमचंद ने हिंदी भारती की सेवा की और बराबर कहानी तथा उपन्यास लिखते रहे। अपने जीवन में दो सौ से अधिक कहानियाँ उन्होंने लिखीं और उनके अनेक संग्रह प्रकाशित हुए हैं जिनमें सप्तसरोज, नवनिधि, प्रेमपचीसी, प्रेमपूर्णिमा, मानसरोवर आदि मुख्य हैं। आपका पहला उपन्यास सेवा-सदन था। उसके पश्चात् प्रेमाश्रम निकला। फिर रंगभूमि। फिर

कायाकल्प, कर्मभूमि और गबन। विधाता की विचित्रता है कि आपका अंतिम उपन्यास 'गोदान' था। आपने दो नाटक भी लिखे—'कर्बला' और 'बलिदान की वेदी।' नाटक में इन्हें उतनी सफलता न मिल सकी जितनी कहानियों में मिली। आपने कुछ उपन्यासों का अनुवाद भी किया। जार्ज इलियट के 'साइलस मार्नर' का 'सुखदास' के नाम से अनुवाद किया है। अनातोल फ़्रांस के तीया, गालसवर्षी के चाँदी की डिबिया तथा न्याय नाम के दो ग्रंथों का भी हिंदी में आपने अनुवाद किया। फिसाना आजाद का संक्षेप भी 'आजाद कथा' के नाम से आपने किया था। जो कहानियाँ आप लिखते थे उसका उर्दूरूपांतर भी पत्र-पत्रिकाओं, गुजराती पत्रों में भी छपा करता था। आपकी कहानियाँ हिंदी भाषा की परिधि के बाहर भी पहुँचीं। आपकी रचनाओं के लोकप्रिय होने का कारण सबसे प्रथम आपकी भाषा थी। उर्दू से आप आए थे। मुहावरों से लैस और सबकी समझ में आनेवाली भाषा आप लिखते थे। आपकी शैली अपनी निजी ढंग की थी। सामाजिक प्रश्नों पर अच्छा प्रकाश आपने डाला और ग्राम-चित्रण में अधिक सफलता पाई।

प्रेमचंद ने सरकारी नौकरी छोड़ने के पीछे अपना निजी प्रेस खरीदा और मासिक पत्र हंस को जन्म दिया। कुछ दिनों तक आप माधुरी के संपादक भी रहे और बंबई में फिल्म-कंपनी में भी साल भर तक नोकरी की। आपके दो फिल्म तैयार हुए एक सेवासदन और दूसरा मिल। परंतु वहाँ आपको सफलता नहीं मिली। आप साहित्याकार थे और इसी में आपको सफलता मिल सकती थी।

आपकी कहानियों की सदा उर्दू और हिंदी दोनों पत्रों में माँग रहा करती थी और पुरस्कार भी अच्छा मिलता था। आपने कुछ दिनों

सरदार पूर्णसिंह ।

तक एक राजनीतिक साप्ताहिक पत्र जागरण भी निकाला किंतु उसमें सफलता नहीं मिली।

अपने साहित्य से अधिक अध्ययन की वस्तु प्रेमचंद स्वयं थे। पतला-दुबला शरीर, गोरा-सा रंग, बड़ी बड़ी आँखें, घनी मूँछ, देखते ही एक प्रभाव उत्पन्न कर देतीं। रहन-सहन और स्वभाव बड़ा सीधा और सरल। व्यवसाय-बुद्धि बिलकुल नहीं। उनके समय में प्रेस में सदा घाटा रहता था। इतनी पुस्तकें लिखीं पर कुछ विशेष जमा नहीं कर गए। मिलने-जुलने में बनावट छू नहीं गई थी। जिन आदर्शों को कहानियों में लिखते थे कार्यान्वित करने की चेष्टा भी करते थे। आपने श्रीमती शिवरानी देवी से विधवा-विवाह किया था जो आपकी दूसरी पत्नी हैं। आप हिंदी की एक विभूति थे। आपकी राष्ट्रीयता कुछ कुछ समाजवादी सिद्धांतों की थी और साहित्य में आप सरल हिंदी के पक्षपाती थे।

जीवन के प्रारंभ में निर्धनता के कारण स्वास्थ्य अच्छा न रहता था। मरने के पहले जलोदर रोग से आप पीड़ित थे। संवत् १९९३ में आपका स्वर्गवास हुआ।

(४८) सरदार पूर्णसिंह

सरदार पूर्णसिंह का जन्म सीमाप्रांत के ऐबटाबाद जिले के एक गाँव में संवत् १९३८ में हुआ था। इनके पिता एक साधारण सरकारी नौकर थे जो वर्ष के अधिकांश भाग में सीमाप्रांत प्रदेश की पहाड़ियों पर दौरा करते रहते थे और फसल तथा भूमि-संबंधी कागज-पत्रों की देख-रेख किया करते थे। इसलिये घर-गृहस्थी की देख-भाल इनकी माता किया करती थीं, जो एक साध्वी, धर्मप्राण और साहसी महिला थीं। जिस ग्राम में सरदार साहब का जन्म हुआ और जहाँ ये लोग रहते

थे वहाँ पठानों की बस्ती अधिक थी। इन्हीं के बीच इनकी बाल्यावस्था बीती। इनकी माता के ही उद्योग और अध्यवसाय से ये रावलपिंडी के एक स्कूल में बैठाए गए। वहाँ इनकी माता इनके साथ रहती थीं। ये स्कूल के तेज लड़कों में न थे, पर पढ़ने-लिखने का काम मन लगाकर करते थे और परीक्षाओं में सुगमता से उत्तीर्ण हो जाते थे। यहाँ से एंट्रेंस पास करके ये लाहौर पढ़ने चले आए। यहाँ अभी ये ग्रेजुएट भी न हो पाये थे कि इन्हें जापान जाने के लिये एक छात्रवृत्ति मिली। अतएव संवत् १९५७ में ये जापान चले गये और वहाँ तीन वर्ष रहकर टोकियो के इम्पीरियल यूनीवर्सिटी में इन्होंने व्यावहारिक रसायनशास्त्र का अध्ययन किया। इन्हीं दिनों में स्वामी रामतीर्थ जापान गए हुए थे। उनसे सरदार साहब की भेंट हुई। उनके व्याख्यानों को सुनकर वे बड़े प्रभावित हुए और पूरे वेदांती बन गए। वे इस संबंध में स्वयं लिखते हैं—"इसी समय जापान में एक भारतीय संत से, जो भारतवर्ष से आया था, मेरी भेंट हो गई। उन्होंने मुझे एक ईश्वरीय ज्योति से स्पर्श किया और मैं संन्यासी हो गया। मगर मैं देखता हूँ कि उन्होंने मेरे हृदय में और भी अनेक भाव, जिनके लिये भारत के आधुनिक साधु बहुत व्यग्र हैं, भर दिए; जैसे राष्ट्र का निर्माण, भारत की महत्ता को जाग्रत करना और कर्म में निरत रहना। यद्यपि मैं जीवन की व्यर्थ बातों में आकर्षित नहीं होता था, परंतु जिसने मुझे आत्मज्ञान की इतनी बातें बताई थीं, उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके मैं अपनी रसायन की पुस्तकें फेंक-फाँककर भारत की ओर चल दिया।" इस प्रकार ये स्वामी रामतीर्थ के अनुयायी और अंतरंग शिष्य हो गए। यहाँ कुछ दिनों तक संन्यासी वेष में रहकर इन्होंने गृहस्थाश्रम धर्म का पालन करना उचित समझा। इनका विवाह हो गया और ये देहरादून के इम्पीरियल

कर प्रो० पूर्णसिंह के आत्मीय और मिलनेवाले, जिनमें सिक्ख-संप्रदाय के सज्जनों की संख्या अधिक थी, घबरा गए। उन्होंने प्रो० पूर्णसिंह पर जोर दिया कि वे मास्टर अमीरचंद और स्वामी रामतीर्थ से अपना किसी प्रकार का संबंध स्वीकार न करें। मजबूर होकर प्रो० पूर्णसिंह को यही कहना पड़ा। उन्होंने अदालत में ऐसा ही बयान दिया कि स्वामी रामतीर्थ या उनके शिष्यों से मेरा किसी प्रकार का भी संबंध नहीं है। इस प्रकार प्रो० पूर्णसिंह उस मुकदमे की आँच से तो बच गए पर उनके विचारों की हत्या हो गई। स्वामी रामतीर्थ के वेदांत-सिद्धांत से उनका संबंध सदा के लिये छूट गया। प्रो० पूर्णसिंह को वैसा बयान देने के लिये मजबूर करनेवालों में एक सिख साधु भी थे। उनकी संगति और शिक्षा ने प्रो० पूर्णसिंह की काया ही पलट दी। उन्होंने सब प्रकार से उस सिक्ख साधु को आत्मसमर्पण कर दिया, बिलकुल उसी के रंग में रँग गए।"

इस घटना का उन पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उनका रूप-रंग बदल गया। यह तो पहले लिखा जा चुका है कि फारेस्ट इंस्टीटचूट के प्रिंसिपल से उनकी नहीं पटती थी; इसलिये उन्होंने नौकरी छोड़ दी और ग्वालियर चले गए। पर वहाँ भी न ठहर सके। वहाँ से पंजाब में जडाँवाला में आकर उन्होंने कृषिकार्य आरंभ किया। यहाँ उन्हें विशेष आर्थिक कष्ट रहा। उनका देहांत ३१ मार्च सन् १९३१ (संवत् १९८८) को हुआ।

सरदार पूर्णसिंह के लिखे ५ हिंदी-लेखों का पता चला है—(१) कन्यादान या नयनों की गंगा, (२) पवित्रता, (३) आचरण की सभ्यता, (४) मजदूरी और प्रेम, (५) सच्ची वीरता। इन लेखों की शैली भाव-प्रधान है। इनमें लाक्षणिकता के द्वारा उनकी भाषा की शक्ति और भावों की विभूति की अत्यंत मनोहर छटा देख पड़ती है। इस नई शैली के प्रवर्तक प्रो० पूर्णसिंह थे। अभी तक उनकी समकक्षता करने की

ओर प्रवृत्ति नहीं देख पड़ती। उसके लिये प्रकांड विद्वत्ता, भावों का प्रबल प्रवाह और अपने विचारों की तल्लीनता चाहिए। यद्यपि प्रो० पूर्णसिंह के पाँच ही लेखों का अब तक पता चला है, पर हिंदी-निबंधों में वे एक विशिष्ट स्थान के अधिकारी हैं। यदि प्रो० पूर्णसिंह की सांसारिक स्थिति में घोर परिवर्तन न होता तो न जाने कितने रत्नों से वे भाषा-भांडार को भरते।

(४९) बाबू रामदास गौड़

बाबू रामदास गौड़ का जन्म जौनपुर में संवत् १९२८ की मार्गशीर्ष अमावस्या को हुआ था। इनके पिता मुंशी ललिताप्रसाद जौनपुर के चर्चमिशन हाई स्कूल के सेकेंड मास्टर थे।

गौड़ जी ने फारसी, गणित तथा अँगरेजी की शिक्षा अपने पिता से पाई थी। इनकी माता और नानी नित्य नियमपूर्वक रामचरितमानस का पाठ करती थीं। अतएव छोटी ही अवस्था में इनको रामचरितमानस से प्रेम हो गया था। संवत् १९५३ में इन्होंने जौनपुर से एंट्रेंस पास करके बनारस के सेंट्रल हिंदू कालेज में नाम लिखाया और यहाँ से संवत् १९५८ में एफ० ए० पास किया। फिर प्रयाग के म्योर सेंट्रल कालेज से संवत् १९६० में बी० ए० पास किया। कुछ दिनों तक इन्होंने कानून का भी अध्ययन किया। संवत् १९६१ से १९६३ तक कायस्थ पाठशाला में रसायन के प्रोफेसर और १९६३ से १९७५ तक म्योर सेंट्रल कालेज के डिमांस्ट्रेटर रहे। इसी बीच में संवत् १९६५ में इन्होंने रसायन में एम० ए० की परीक्षा पास की। संवत् १९७५ में हिंदूविश्वविद्यालय में आकर ये कार्य करने लगे। पर १९७७ में असहयोग-आंदोलन के समय विश्वविद्यालय की नौकरी छोड़ दी। यहाँ से ये कानपुर चले

गए और वहाँ राष्ट्रीय विद्यालय में काम करने लगे। १३ दिसंबर सन् १९२१ में ये पकड़े गए और इन्हें डेढ़ वर्ष का कारागार और १००) का अर्थ-दंड दिया गया। पर जनवरी १९२३ में और लोगों के साथ ये भी छोड़ दिए गए। अब ये काशी में ही रहने लगे। यहाँ कुछ काल तक 'आज कार्यालय' में काम करते रहे। इसी समय ये म्युनिसिपल बोर्ड के मेंबर निर्वाचित हुए। पर मतभेद हो जाने के कारण उसे छोड़कर विहार-विद्यापीठ में चले गए। वहाँ ये थोड़े ही दिन रहकर काशी लौट आए।

इनकी कविताएँ रसिकवाटिका और छत्तीसगढ़मित्र में छपती रहीं। उन्होंने कुछ वर्षों तक 'गौड़हितकारी' तथा 'विज्ञान' का संपादन भी किया था। संवत् १९७२ से वैज्ञानिक विषयों पर लेख लिखने लगे और विज्ञान के प्रसार में बड़ी दृढ़ता तथा अध्यवसाय से उद्योग करते रहे। इनके बनाए हुए ग्रंथों में मुख्य ये हैं—संक्षिप्त रामायण, स्वप्नादर्श, ताजकिरे सुचारवंशी, भारी श्रम, भुनगापुराण, वायुमंडल पर विजय, वैज्ञानिक अद्वैतवाद, रसायन, विज्ञानसूत्र, विज्ञानहस्तामलक। अंतिम पुस्तक पर उन्हें साहित्य-सम्मेलन से मंगलाप्रसाद-पुरस्कार मिला था।

इन्होंने कई स्कूली पुस्तकों का भी संपादन किया था तथा रामचरितमानस की विस्तृत भूमिका लिखी थी।

इनकी रहन-सहन बहुत सीधी-सादी थी। जिस काम में लग जाते थे उसे बड़ी दृढ़ता से अग्रसर करते थे। लिखना-पढ़ना ही इनका मुख्य व्यसन रहता था। भाषा इनकी सरल पर पुष्ट होती थी। अंतिम दिनों में ये राम के भक्त होकर उन्हीं की पूजा-चर्चा किया करते थे। भूत-पिशाचों पर भी इनका विश्वास था, पर अंत में उस मार्ग से ये विरत हो गए थे।

इनका देहांत सन् १९३७ (संवत् १९९४) में काशी में हुआ।

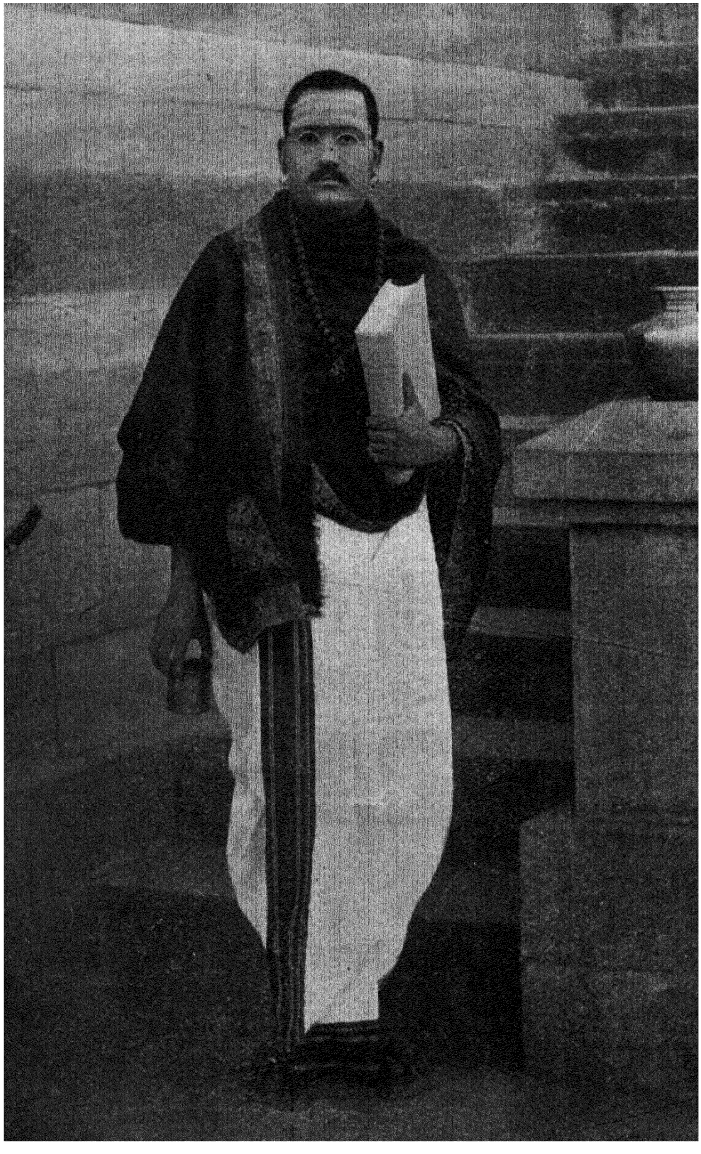

पंडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ।

(५०) पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी, बी० ए०

पजाब का कांगड़ा-प्रांत प्राचीन काल में त्रिगर्त्त कहलाता था। वहाँ के सोमवंशी राजा जब मुलतान छोड़कर पहाड़ों में आए थे तब अपने साथ पुरोहितों को भी लेते आए थे। उसी वंश के राजा हरिचंद्र ने गुलेर में राज्य स्थापित कर सन् १४२० में हरिपुर को अपना राज्यनगर बनाया था। उक्त राजा ने अपने कुछ पुरोहितों को "जडोट" ग्राम जागीर की भाँति दे दिया था, वही पुरोहित 'जडोटिये' कहलाए। उन्हीं पुरोहितों के वंश में संवत् १८९२ में पंडित शिवराम जी का जन्म हुआ था जिन्होंने काशी आकर श्री गौड़ स्वामी तथा अन्य कई विद्वानों से व्याकरण आदि शास्त्रों की बहुत अच्छी शिक्षा पाई थी। उनकी योग्यता और विद्वत्ता से प्रसन्न होकर जयपुर के महाराज सवाई रामसिंह जी ने उन्हें अपने पास रख लिया था। जयपुर में पंडित शिवराम जी ने प्रधान पंडित रहकर सैकड़ों विद्यार्थी पढ़ाए थे और अच्छा यश प्राप्त किया था। संवत् १९६८ में उनका परलोकवास हो गया।

पंडित चंद्रधर शर्मा उक्त पंडित जी के ज्येष्ठ पुत्र थे। इनका जन्म २५ आषाढ़ संवत् १९४० को जयपुर में हुआ था। बाल्यावस्था में इन्होंने अपने पिता जी से ही शिक्षा पाई थी। उसी समय इन्हें संस्कृत का विशेष अभ्यास कराया गया था। बहुत ही छोटी अवस्था में इन्हें संस्कृत बोलने का अच्छा अभ्यास हो गया था। जिस समय ये पाँच-छः वर्ष के थे उस समय इन्हें तीन-चार सौ श्लोक और अष्टाध्यायी के दो अध्याय कंठस्थ थे। नौ-दस वर्ष की अवस्था में एक बेर इन्होंने संस्कृत का छोटा-सा व्याख्यान देकर भारत-धर्म-

महामंडल के कई उपदेशकों को चकित कर दिया था। प्रसिद्ध मासिक पुस्तक काव्यमाला के संपादक महामहोपाध्याय पंडित दुर्गाप्रसाद जी की कृपा से इनके हृदय में देश-सेवा, साहित्यप्रेम आदि कई उपयोगी विचारों के अंकुर उत्पन्न हुए थे।

सन् १८९३ में इन्होंने जयपुर के महाराज कालेज में अँगरेजी पढ़ना आरंभ किया। छः ही वर्ष में सन् १८९९ में ये प्रयाग-विश्वविद्यालय की एंट्रेंस परीक्षा में प्रथम हुए और कलकत्ता-विश्व-विद्यालय की उसी परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। इनकी इस सफलता के कारण जयपुर-राज्य ने इन्हें एक स्वर्णपदक दिया था। उसी वर्ष इन्होंने महाभाष्य पढ़ना आरंभ किया। सन् १९०२ में इन्होंने जयपुर के मानमंदिर के जीर्णोद्धार में सहायता दी और सम्राट् सिद्धान्त नामक ज्योतिष-ग्रंथ के कई अंशों का बहुत योग्यता-पूर्वक अनुवाद किया जिसके लिये उस कार्य के अध्यक्ष दो अँगरेज सज्जनों ने उनकी बहुत प्रशंसा की। उसी समय लेफ्टिनेंट गैरट के साथ इन्होंने अँगरेजी में "दी जयपुर आबजरवेटरी एंड इट्स बिल्डर" नामक ग्रंथ लिखा था। दूसरे वर्ष सन् १९०३ में ये प्रयाग-विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षा में प्रथम हुए और इसके लिये इन्हें जयपुर-राज्य से एक स्वर्णपदक और बहुत-सी पुस्तकें मिलीं। साथ ही साथ ये वेद और प्रस्थानत्रय का भी अभ्यास कर रहे थे। इनका विचार दर्शनशास्त्र में एम० ए० की परीक्षा देने का था, परंतु जयपुर-राज्य के आग्रह से खेतड़ी के स्वर्गवासी राजा साहब के संरक्षक बनकर इन्हें अजमेर के मेयो कालेज में जाना पड़ा। आपने वहाँ संस्कृत के प्रधान अध्यापकपद को सुशोभित किया था। सन् १९१७ में आप जयपुर-राज्य के समस्त सामंतों के अभिभावक बनाए गए। मेयो कालेज

में काश्मीर के महाराज हरिसिंह, प्रतापगढ़ के नरेश रामसिंह, ठाकुर अमरसिंह, ठाकुर कुशालसिंह तथा ठाकुर दलपतसिंह इनके प्रिय शिष्यों में थे। सन् १९२० में ये काशी-विश्वविद्यालय के संस्कृतविभाग के अध्यक्ष होकर काशी आए। यहाँ इन्होंने दो वर्ष के लगभग कार्य किया होगा कि ११ सितंबर सन् १९२२ को ३९ वर्ष की अल्प आयु में इनका स्वर्गवास हो गया।

पंडित जी ने वैदिक साहित्य, भाषातत्त्व, दर्शन और पुरातत्त्व का अनुशीलन किया था और अँगरेजी और संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत, पाली और बँगला, मराठी आदि भाषाओं से भी ये परिचित थे।

सन् १८९७ में इनका परिचय जयपुर के स्वर्गीय जैनवैद्य जी से हुआ था। उसी समय इनका झुकाव हिंदी की ओर हुआ। दोनों सज्जनों ने मिलकर हिंदी की सेवा करने की प्रतिज्ञा की थी। तदनुसार सन् १९०० में इन लोगों ने जयपुर का नागरीभवन स्थापित किया था। इन्होंने कई वर्ष तक "समालोचक" का संपादन भी किया था। इसके अतिरिक्त और बहुत-से पत्रों में प्रायः इनके लेख निकला करते थे।

नागरी-प्रचारिणी सभा काशी के कार्यों से ये बहुत सहानुभूति रखते थे और बराबर उसके सदस्य रहे। जो काम ये करते थे वह प्रायः चुपचाप ही करते थे क्योंकि नाम की इन्हें उतनी इच्छा नहीं रहती थी। औरों का शिक्षक बनने की अपेक्षा ये स्वयं विद्यार्थी बनना अधिक पसंद करते थे। इसी लिये इनके समय का अधिकांश पुस्तकावलोकन में ही बीतता था। इनके प्रिय शिष्यों में खेतड़ी के राजा जयसिंह थे। इनकी जेष्ठा भगिनी महारानी सूर्यकुमारी शाहपुराधीश राजाधिराज उम्मेदसिंह जी की पत्नी थीं। महारानी की छोटी भगिनी

महारानी चन्द्रकुमारी प्रतापगढ़राज्य की राजमाता हैं। इन दोनों बहिनों का हिंदी पर अत्यंत प्रेम था। इन्हीं दोनों बहिनों से पंडित चन्द्रधर शर्म्मा का अत्यंत स्नेह था जिससे उनके पांडित्य के विकास में बहुत सहायता पहुँची। गुलेरी जी के सतत उद्योग से महाराज उम्मेदसिंह ने अपनी स्वर्गीया पत्नी की स्मृति को चिरस्थायी रखने के लिये बीस हजार रुपया दान देकर काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा-द्वारा सूर्यकुमारी पुस्तकमाला की स्थापना कराई।

गुलेरी जी की लिखी तीन कहानियाँ—सुखमय जीवन, उसने कहा था, और बुद्धू का काँटा प्रसिद्ध हैं। ये तीनों कहानियाँ भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के सजीव चित्र उपस्थित करती हैं जो गुलेरी जी की प्रतिभा की छाप लग जाने से अत्यंत मनोहर हो गई हैं। 'सुखमय जीवन' में एक नवयुवक का चित्र खींचा गया है जिसने अपने विद्या के बल एक पुस्तक लिख डाली है; पर जिसे अभी तक संसार का अनुभव नहीं हुआ है। परिस्थितियों ने उसे ऐसा घेरा है कि उसकी आँखें खुल जाती हैं और वह वास्तविक सुखमय जीवन प्राप्त करने में समर्थ होता है। 'बुद्धू का काँटा' तो और भी मनोरंजक दृश्य उपस्थित करता है। एक नवयुवक विद्याध्ययन में लगा हुआ है, उसे संसार का कुछ भी अनुभव नहीं है। वह लोटे में फंदा डालकर कुएँ से पानी खींचने में असफल होता है, गाँव की स्त्रियों के बीच में पड़ जाने से वह सिर उठाकर बात भी नहीं कर सकता। ज्यों-ज्यों उसका सांसारिक अनुभव बढ़ता जाता है उसका अल्हड़पन दूर होता जाता है और वह संसार का ज्ञान प्राप्त करता जाता है। परोक्ष रीति से आधुनिक शिक्षा की त्रुटियों का दिग्दर्शन भी कराया गया है। भागवन्ती की वाक्पटुता देखकर स्काट की 'क्वीन मेरी' का स्मरण

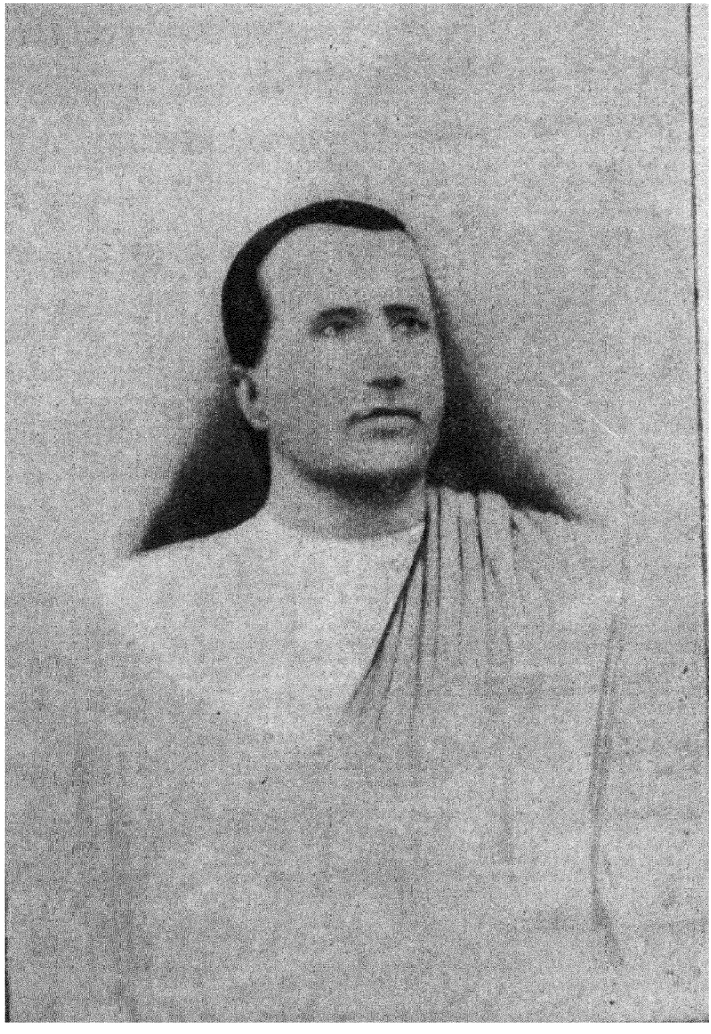

बाबू जयशंकर प्रसाद ।

हो जाता है । 'उसने कहा था' तो गत महायुद्ध में सिक्खों की वीरता, धीरता, दृढ़ता और कर्त्तव्यपरायणता का बड़ा ही मनोहर दृश्य उपस्थित करती है । ये तीनों कहानियाँ हिंदी-साहित्य के अमूल्य रत्न हैं । इनकी बड़ी विशेषता यह है कि इनमें भिन्न-भिन्न पात्रों की भाव-भंगी अपनी अपनी परिस्थिति के अनुसार बड़ी सुंदर और अनुकूल भाषा में प्रदर्शित की गई है, जिससे कहानियों में सजीवता की पुट बड़ी ही सुंदर चढ़ गई है । गुलेरी जी हिंदी और संस्कृत के प्रकांड विद्वान् थे। इनकी लेखनी में बल था । वे हिंदी में हास, उपहास, व्यंग्य, करुण आदि भावों का ऐसा सुन्दर चित्र उपस्थित करते थे कि उन्हें पढ़कर मन मुग्ध हो जाता है । उनकी मीठी चुटकियाँ तो हृदय को चुभ जानेवाली होती हैं ।

गुलेरी जी के समस्त लेखों का संग्रह कई वर्षों से काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के उदर में समाया हुआ है; देखें वह कब प्रकाशित होता है । उसके प्रकाशित होने पर पंडित जी की विद्वत्ता, प्रतिभा और लेखनशैली का चमत्कार प्रकट होगा । गुलेरी जी आधुनिक हिंदी-साहित्य के रत्नों में से एक उज्ज्वल रत्न थे ।

इनका स्वभाव बड़ा ही सरल, निष्कपट और आडंबरहीन था । मित्रता के नाते को निबाहना ये खूब जानते थे। इनका व्यंग्य और उपहास तो बड़ा ही शिष्ट और मनोहर होता था।

(५१) बाबू जयशंकर प्रसाद

आधुनिक हिंदी के खड़ी-बोली-काव्य की उस शैली के प्रवर्त्तक जिसे छायावाद के नाम से पुकारा जाता है, प्रसाद जी थे । इनका पूरा नाम जयशंकर प्रसाद था। काशी में सरायगोवर्द्धन मुहल्ले में इनका

जन्म माघशुक्ला १० संवत् १९४६ को सुँघनी हलवाई वैश्यकुल में हुआ था। इनके पिता का नाम देवीप्रसाद था जो सुँघनी साहु के नाम से नगर में विख्यात थे। इनके कुल में सुर्त्ती, तमाखू, सुँघनी आदि का व्यवसाय होता था।

प्रारंभिक शिक्षा घर पर समाप्त होने के पश्चात् आपने क्वींस कालेज में पढ़ना आरंभ किया। परंतु पिता की मृत्यु के कारण घर का काम-काज देखने की भी आवश्यकता हुई। व्यवसाय बड़ा था। आपका पढ़ना छूट गया। घर ही पर कुछ उर्दू, संस्कृत तथा हिंदी की शिक्षा हुई। साधारण अँगरेजी भी पढ़ी परंतु धीरे-धीरे उसमें भी इतना ज्ञान हो गया कि पुस्तकें पढ़ और समझ लेते थे।

कविता का शौक आपको बचपन से ही था। छिप-छिपकर अनेक कविताएँ लिखी थीं। पीछे उन रचनाओं को आपने फाड़कर फेंक दिया। पंद्रह वर्ष की अवस्था से कुछ-न-कुछ लिखते थे। पहले आपने व्रजभाषा में रचना आरंभ की। यद्यपि पुरानी शैली का अनुसरण आपने किया और भाषा भी वही परंपरागत रक्खी फिर भी उन रचनाओं में एक नवीन दृष्टिकोण था। आपकी व्रजभाषा की कविताएँ प्रायः अप्राप्य हैं।

वह युग खड़ी बोली की कविता के आरंभ का था। प्रसाद जी भी इसी ओर झुके और व्रजभाषा को छोड़कर आपने खड़ी बोली में कविता आरंभ की। आपके एक भानजे अंबिकाप्रसाद गुप्त थे। उन्होंने इन्दु नाम का एक मासिक पत्र निकालना आरंभ किया था, उससे यद्यपि प्रसाद जी से प्रकाश्य रूप से कोई संबंध नहीं था परंतु प्रसाद जी उसकी सहायता करते थे। उसी पत्र में प्रसाद जी की प्रारंभिक खड़ी बोली की रचनाएँ प्रकाशित होने लगीं। इन्दु ने साहित्य-जगत् में स्थान पा लिया था और उसी के द्वारा लोग प्रसाद जी को जानने लगे थे।

परंतु जयशंकर प्रसाद जी की ख्याति उन रचनाओं-द्वारा नहीं हुई। उन्होंने अतुकांत कविता का हिंदी में श्रीगणेश किया। हरिऔध जी का प्रियप्रवास प्रकाशित हो चुका था। वह संस्कृतवृत्तों में था। जयशंकर प्रसाद ने मात्रिक और हिंदी-छंदों में भिन्न-तुकांत कविताएँ लिखीं। 'महाराणा का महत्त्व', 'प्रेम पथिक', 'दो कथाएँ' उन्होंने इसी ढंग की लिखीं और एक चंपू 'चित्राधार' भी। परंतु यह शैली उस युग को पसंद न आई और उसे बहुत दिनों के लिये उन्होंने छोड़ दिया। फिर उस प्रकार की रचनाएँ मरने के तीन-चार वर्ष पहले उन्होंने लिखीं, जब हिंदी में भिन्नतुकांत रचना का कुछ प्रचार चल चला। उसमें 'पेशोला की प्रतिध्वनि,' 'प्रलय की छाया' और 'शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण' ये कविताएँ की हैं।

उससे भी अधिक प्रसाद जी की ख्याति उन कविताओं के कारण हुई जो व्यंजनाप्रधान हैं जिन्हें छायावाद के नाम से पुकारा जाता है। जयशंकर प्रसाद इस शैली के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। इस ढंग की उनकी पहली रचना 'आँसू' है। यह कविता विप्रलंभ शृंगार की भावनाओं और वेदनाओं की अभिव्यक्ति है।

प्रसाद जी ने इसी शैली पर गीति-काव्य ही अधिकांश लिखे हैं। उनकी अंतिम रचना महाकाव्य के रूप में 'कामायिनी' है। उसका विषय एक वैदिक आख्यान है और इस काव्य में उन्होंने निजी रंग से उसे व्यक्त किया है। इनके अतिरिक्त उनकी फुटकर कविताओं के तीन संग्रह हैं। काननकुसुम, झरना, और लहर निकल चुके हैं।

हिंदी-साहित्य में प्रसाद जी नाटककार के रूप में सबसे अधिक विख्यात हुए। भारतेंदु के पश्चात् हिंदी में नाटक प्रायः लिखे ही नहीं गए। प्रसाद जी ने इस क्षेत्र को अपनाया। पारसी स्टेजों पर

जो नाटक खेले जाते थे उनकी यह प्रतिक्रिया थी। जयशंकर प्रसाद के नाटकों के विषय प्राचीन भारत की ऐतिहासिक घटनाएँ हैं। वे भारतीय संस्कृत के पक्षपाती थे, उसकी स्मृति दिलाना चाहते थे और वही गौरव फिर से लाना चाहते थे। बौद्धकालीन भारत का उन्होंने अच्छा अध्ययन किया था। उसे अपने नाटकों में आपने व्यक्त किया है। 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'चंद्रगुप्त मौर्य्य', 'अजातशत्रु', 'राज्यश्री', 'स्कन्दगुप्त', 'करुणालय', 'विशाख', 'कामना', 'ध्रुव स्वामिनी' और 'एक घूँट,' इन दस नाटकों का उन्होंने निर्माण किया और 'इन्द्रनायिका' नाटक का कुछ अंश लिखकर छोड़ गए। इसमें एक घूँट सामाजिक, कामना लाक्षणिक और शेष सब ऐतिहासिक हैं। इसमें कोई मतभेद नहीं हो सकता कि सब नाटक साहित्यिक दृष्टि से महत्त्व के और ऊँचे हैं। इसमें मतभेद अवश्य है कि वे मंच पर सफलतापूर्वक खेले जा सकते हैं या नहीं।

नाटक के साथ ही साथ जयशंकर प्रसाद ने कहानी के संसार में भी प्रवेश किया। कहानियों में भी वे साधारण श्रेणी से ऊपर उठे। हृदय की सूक्ष्म भावनाओं की ओर इन्होंने अधिक ध्यान दिया। लगभग सत्तर कहानियाँ उन्होंने हिंदी में लिखीं जिसके पाँच संग्रह छाया, प्रतिध्वनि, आकाशदीप, आँधी और इंद्रजाल प्रकाशित हो चुके हैं। उन्होंने दो सामाजिक उपन्यास भी लिखे हैं। कंकाल और तितली। जहाँ नाटकों में उन्होंने भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल पक्ष का निरूपण किया वहाँ उपन्यासों में आधुनिक अवनति का काला चित्र अंकित किया है।

उन्होंने निबंध भी लिखे हैं जिनमें कला, कविता, छायावाद आदि के संबंध में अपने भावों को व्यक्त किया है और अपना दृष्टिकोण

पुस्तकें लिखीं उन्हें बहुत समझना चाहिए। पत्र-पत्रिकाओं में भी लिखना उनके लिये दुष्कर कार्य था। कोई आया, जबरदस्ती कुछ लिखा ले गया तो ले गया। साहित्यिकों का समुचित आदर और सम्मान भी करते थे। साहित्यिक और असाहित्यिक निर्धन व्यक्तियों के लिये उनकी जेब सदा खुली रहती थी।

विचारों में जयशंकर प्रसाद पक्के नियतिवादी थे। यद्यपि वे उपनिषदों के बड़े भक्त थे। सिरहाने उपनिषदों की एक छोटी पोथी सदा रहा करती थी। उसका बहुत अध्ययन करते थे। उनकी कविताओं में भी उपनिषदों की छाप है। इतना होने पर भी भाग्य के भरोसे रहे। जीवन में उन्हें बहुत-सी प्रतिकूल परिस्थितियों से लड़ना पड़ा, परंतु वे भाग्य के ही भरोसे लड़े।

बहुत कुछ निकल जाने पर भी उनके पास पर्याप्त भूमि तथा मकान थे। उनके किराया आदि की वसूली में बहुधा अड़चनें पड़ती थीं पर वे कचहरी कभी नहीं गए। मुकदमें से वे अघराते थे। विचारों में उदार और देशभक्त थे। यद्यपि कभी सक्रिय सहयोग राजनीति से नहीं किया, न चलती राजनीतिक पुस्तकें लिखीं परंतु वे राष्ट्रवादी।

जीवन के अंतिम पांच-सात वर्षों में वे प्रायः बीमार रहा करते थे। उन्हें मंदाग्नि तथा अजीर्ण रोग हो गया था। फिर भी उनके अधरों से स्मित रेखा नहीं मिटी और वह सुन्दर गोल शरीर, सफाचट चेहरा सदा हँसता ही रहा। अंत में उन पर क्षयरोग का आक्रमण हुआ और उसी से संवत् १९९४ की प्रबोधिनी एकादशी को वे इस असार संसार को छोड़ गये।